मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 119 ● वर्ष 13, अंक 3 ● मई 2023 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

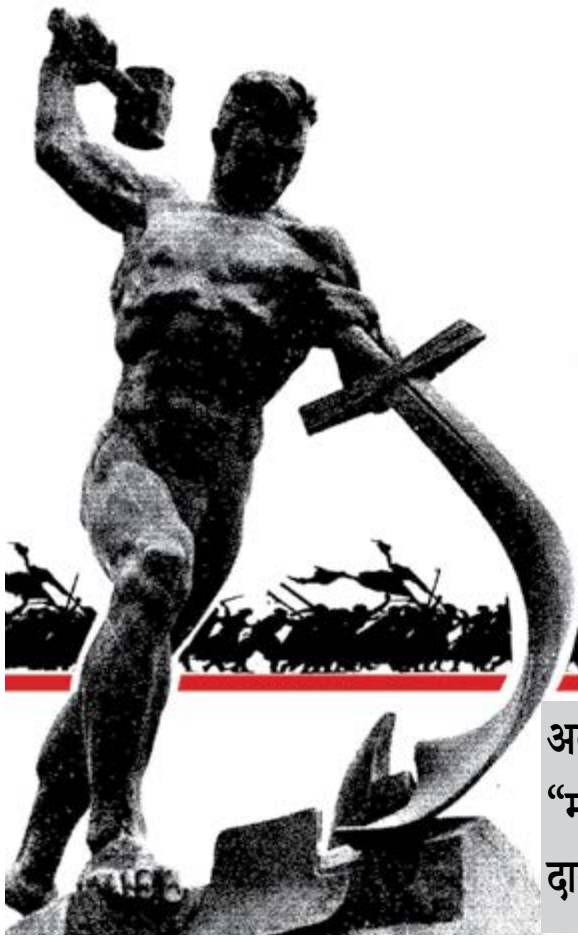

मज़दूर बिगुल

अतीक की हत्या और "माफ़िया-मुक्त" प्रदेश के दावों की असलियत 6

मज़दूर वर्ग को इतिहास व विज्ञान को विकृत करने का विरोध क्यों करना चाहिए 13

भाजपा के 'लव जिहाद' की नौटंकी की सच्चाई 16

पुलवामा हमले का सच उजागर, चौतरफ़ा बढ़ता असन्तोष और मोदी सरकार की भावी सम्भावित रणनीति

आम मेहनतकश आबादी के लिए ज़रूरी चेतावनी : 2024 के आम चुनावों के पहले अन्धराष्ट्रवाद व साम्प्रदायिक उन्माद की लहर उठाने की कोशिशों से सावधान रहें!

ज़रा याद करिये। पिछले 25 वर्षों में आतंकवादी हमले, पाकिस्तान द्वारा घुसपैठ और साम्प्रदायिक दंगे अधिकांशत: तभी क्यों हुए हैं जब भाजपा सरकारें सत्ता में थीं, बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार के कारण वे भयंकर अलोकप्रिय हो चुकी थीं और आने वाले आम चुनावों में उनकी हालत पतली थी? आपकी याददाश्त को थोड़ा ताज़ा कर देते हैं।

1999 के अक्टूबर में आम चुनाव होने वाले थे। वाजपेयी सरकार सत्ता में थी। वाजपेयी सरकार की हालत पतली थी। जून-जुलाई 1999 में पाक-समर्थित आतंकवादियों द्वारा घुसपैठ होती है और कारगिल युद्ध हो जाता है। जब चुनाव हो गये, भाजपा जीत गयी तो यह पता चला था कि घुसपैठ लम्बे समय से जारी थी और ख़ुफ़िया एजेंसियों को इस बारे में मई 1999 में ही सूचना मिल गयी थी और तमाम सूत्रों द्वारा बार-बार इस घुसपैठ के बारे में चेताये जाने के बावजूद भाजपा सरकार ने कुछ नहीं किया और चुनाव के क़रीब आने पर कारगिल युद्ध की शुरुआत हो गयी। **खुद उस युद्ध के 'ऑपरेशन विजय' के प्रमुख सैन्य कमाण्डरों में से एक लेफ्टिनेण्ट जनरल मोहिन्दर पुरी ने**

सम्पादकीय अग्रलेख

बताया कि यह पूरी तरह से ख़ुफ़िया नाकामी और लापरवाही का नतीजा था। लेकिन अगर मई 1999 से ही घुसपैठ की सूचना मिल जाने के बावजूद जून 1999 तक कुछ नहीं किया गया तो अधिकतम सम्भावना इस बात की है कि यह महज़ ख़ुफ़िया नाकामी नहीं हो सकती। कारगिल युद्ध के बाद जो अन्धराष्ट्रवाद की लहर फैली उसमें वाजपेयी नीत-भाजपा की अगुवाई में राजग की सरकार बनी। 2001 में संसद हमला होता है, जिसका इस्तेमाल 2002 और 2007 में गुजरात चुनावों के पहले तक और उसके बाद 2009 में आम चुनावों के पहले तक भाजपा करती रही, हालाँकि यह हमला उस समय हुआ था जब खुद भाजपा की ही सरकार केन्द्र में थी!

उसी प्रकार, 2019 में नोटबन्दी और जीएसटी के भयंकर क़दमों के कारण मोदी सरकार बुरी तरह से अलोकप्रिय थी और उसके चुनाव जीतने के कोई आसार नहीं थे। आज भारत के अग्रणी चुनाव विश्लेषक और वोटिंग पैटर्न के विशेषज्ञ यानी सैफोलॉजिस्ट इस तथ्य को बिना किसी झिझक बताते हैं कि **यदि पुलवामा हमला न हुआ होता तो 2019 में मोदी सरकार की चुनावों में हार तय थी।** नोटबन्दी ने जिस क़दर जनता को खून के आँसू रुलाये थे, उसे भुलाने के लिए अन्धराष्ट्रवाद की एक तगड़ी लहर फैलाना मोदी सरकार के लिए ज़रूरी था।

और क्या इत्तेफ़ाक है कि जब भी भाजपा की कोई सरकार ख़तरे में होती है तो या तो पाकिस्तान की ओर से घुसपैठ होती है, या फिर कोई आतंकी हमला हो जाता है या कहीं दंगा फैल जाता है! याद करें कि

(पेज 9 पर जारी)

मई दिवस : मज़दूर वर्ग के महान पुरखों के गौरवशाली संघर्ष की विरासत को आगे बढ़ाने का दिन

आशीष

1 मई का दिन न तो महज़ छुट्टी का दिन है और न ही मई दिवस या मज़दूर दिवस केवल कुछ रस्मी क़वायदों तक सीमित रहने का दिन है। अफ़सोस की बात यह है कि आज मज़दूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा इस महान दिन के गौरवशाली इतिहास से परिचित नहीं है। मज़दूर वर्ग अपने अतीत के संघर्षों से बेख़बर रहे इसका प्रयास तो पूँजीवादी शिक्षा प्रणाली, पूँजीवादी मीडिया से लेकर सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ और इनकी ट्रेड यूनियनें करती रहती हैं। इस काम में ग़द्दार संशोधनवादी पार्टियाँ और इनकी सेण्ट्रल ट्रेड यूनियनों की भूमिका सबसे बेशर्म क़िस्म की है। दक्षिणपन्थी सेण्ट्रल

ट्रेड यूनियनें बीएमएस, इण्टक आदि से लेकर संशोधनवादी ट्रेड यूनियन सीटू, एटक, एक्टू आदि सभी मज़दूर वर्ग के राजनीतिक तौर पर जागरूक होकर संघर्ष करने की ताक़त को कुन्द करते हैं और हमेशा यह प्रयास करते हैं कि मज़दूर आन्दोलन को वेतन-भत्ते आदि की लड़ाई से आगे नहीं बढ़ने दिया जाये। 1 मई के अवसर पर भी एकदिवसीय हड़ताल आदि से आगे बढ़कर कभी भी ये लोग इस दिन के ऐतिहासिक व राजनीतिक महत्व के बारे में मज़दूरों के बीच बात नहीं करते।

इसके बावजूद उन्नत चेतना से लैस कई मज़दूर साथी मई दिवस

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मैं एक धागा बनाने वाली कम्पनी में काम करता हूँ। इस कम्पनी में धागा की रंगाई किया जाता है। इसमें काम करने वाले मज़दूरों की जिन्दगी नर्क से भी बेकार है। इसमें कोई भी श्रम क़ानूनों का पालन नहीं होता है। न तो न्यूनतम मज़दूरी मिलती न फ़ण्ड बोनस-ई एस आई की सुविधा। न तो सुरक्षा का कोई सरंजाम ही रहता है। यहाँ तक कि पीने का पानी तक नहीं है। ये फैक्ट्री चारों तरफ़ से बन्द है, कहीं से हवा आने की कोई गुंजाइश नहीं है। नीचे की मंजिल में हम चार लोग काम करते हैं। दो मशीन से धागा का गोल बनती है। और उसके बाद रंगाई मशीन में गोलों को डालना होता है। इसके बाद रंग घोलकर डालने के 24 मिनट के बाद सोडा फिर 12 मिनट के बाद नमक फिर एसिड, कस्टिन साबुन और फिर निकालने के बाद वाशिंग मशीन में डालना। फिर यारीफ मशीन में लगाने के बाद फिर मशीन में गोले लोड करना। ये सब काम सिर्फ़ दो मजदूर को करना होता है जब की सात मशीनों को चलाने के लिए कम से कम पाँच लोगों का होना बहुत ही जरूरी है। पर इस काम को दो ही मजदूर करते हैं। 12 मशीनों पर बस दो पंखे हैं। इन पंखों में इतनी गर्म हवा देते कि पंखा की हवा से तो कई गुना अच्छा तो तिलमिलाती धूप में राहत मिलती है।

इस काम को करने वाले मजदूरों को अधिकतर तमाम प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। दमा और टी.बी. जैसी बीमारी अधिकतर होती है क्योंकि काम ही कुछ ऐसा है। एसीड-कास्टिक और फैक्ट्री से निकलने वाले धुआँ से और नमक सार में हाथ और पैर खराब होते हैं। सोडा नमक एसिड, और तमाम कैमिकलों का पानी हाथ पैरों में लगता रहता है। ये अकेली कम्पनी नहीं है, ऐसी लाखों कम्पनियाँ हैं। इनमें करोड़ों लोगो की जिन्दगी नर्क कुण्ड में झुलस रही है। और इससे भी भयानक स्थिति है पत्ती की कम्पनी में काम करने वाले मजदूरों को जिसकी गरमी लोहे को भी पिघला देती है। उस आग में धधकती हुई भट्ठी के सामने रहकर काम करते हैं और बहुत सारी बीमारी भी होती है। उसके बाद भी काम करते हैं। न तो कोई भी सुरक्षा ही मिलती है, न ही कोई भी सुविधा। ये मजदूर मौत के मुँह में रहकर काम करते है और आये दिन दुर्घटनाएँ भी होती हैं। कभी पत्ती लगने से तो कभी करंट लगने से। ये तो आम तौर पर होती है। ये सारी घटनाएँ सिर्फ मालिक की लापरवाही से होती है।

मज़दूर अगर एकजुट हो जायें तो मालिक पर दबाव डालकर कुछ सुविधाएँ हासिल कर सकते हैं लेकिन हम आपस में ही एक नहीं हैं। या तो छोटी-छोटी बातों पर आपस में मनमुटाव करते हैं या बस अपने में मगन रहते हैं और एका बनाने के लिए कुछ करना नहीं चाहते। इस तरह तो सबको एक दिन इसी नर्क में घुटघुटकर मर जाना होगा।

मज़दूर बिगुल अखबार एक उम्मीद लेकर आता है। इसके लेख पढ़कर मुझे भी लगता है कि हमें आवाज़ उठानी चाहिए लेकिन अकेले पड़ जाता हूँ। फिर भी मेरी कोशिश जारी है। मज़दूर एक दिन ज़रूर सुनेंगे क्योंकि ये हमारे जीने मरने का सवाल है।

– धीरेन्द्र, दिल्ली

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :

www.facebook.com/MazdoorBigul

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

बिगुल के बैंक खाते का QR कोड :
UPI: bigulakhbar@okicici

आप इस QR कोड या UPI का इस्तेमाल करके गूगलपे, फ़ोनपे या पेटीएम से भुगतान कर सकते हैं।

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

लुधियाना गैस लीक काण्ड: मुनाफ़े की हवस ने एक बार फिर ली लोगों की जान

मुनाफ़े की हवस पूरी करने वाली आदमख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था के हाथों हत्या है लुधियाना गैस काण्ड के 11 पीड़ितों की मौत!

आशीष

लुधियाना में बीते 30 अप्रैल को एक दिल दहला देने वाली घटना घटी। रविवार की सुबह लुधियाना के गयासपुरा औद्योगिक क्षेत्र के रिहायशी इलाक़े में ज़हरीली गैस लीक होने घटना ने कई लोगों की ज़िन्दगी को लील लिया। अबतक 11 लोगों की मौत हुई है जिसमें महिलाएँ और बच्चे भी शामिल हैं। इस घटना में कई लोग घायल भी हुए जिनका अभी इलाज चल रहा हैं। प्रत्यक्षदर्शियों के मुताबिक़ सुबह पहले ज़ोरदार धमाका हुआ उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि कहीं गैस सिलेण्डर फटा हो। धमाके के तुरन्त बाद ज़हरीली गैस के फ़ैलने से तेज़ दुर्गन्ध चारों तरफ़ फ़ैल गयी। यह दुर्गन्ध इतनी भयानक थी कि लोग नाक और मुँह बाँधकर किसी सुरक्षित जगह की तलाश में इधर-उधर भाग रहे थे। कुछ लोगों ने बताया कि आँखों में जलन होने लगी और दिमाग सुन्न हो गया। लोग बेहोश होकर गिर गये। बेहोशी के हालत में उन्हें अस्पताल भर्ती लोगों की मदद से करवाया गया।

फैक्ट्रियों से निकलने वाले औद्योगिक कचरे को ठीक से विघटित नहीं किया जाना इस प्रकार की घटना के पीछे का सबसे बड़ा कारण है। फ़ैक्ट्रियों से निकलने वाले कचरे से यहाँ लोगों को जो परेशानियाँ हो रही हैं, प्रशासन उनसे हमेशा बेख़बर रहता है। इलाक़े के लोग नगर निगम में पहले शिकायत लेकर पहुँचे कि नलों से अक्सर ज़हरीला पानी आता है तो उल्टे नगर निगम के अधिकारी उन्हें ही खरी-खोटी सुनाने लगे।

लुधियाना में अभी गैस लीक होने की जो घटना हुई है यह कोई पहली घटना नहीं है। ज्ञात हो कि लुधियाना एक औद्योगिक शहर है यहाँ कई प्रकार की बड़ी फैक्ट्रियाँ और इण्डस्ट्री हैं। कई उद्योगों में गैस का प्रयोग होता है। काम के दौरान और गैस को ले जाने में कई बार गैस रिसाव या लीक की घटना हुई है जिसमें जानें भी गयी हैं। वर्ष 2015 में दोराहा पुल के पास अमोनिया गैस लीक होने से 5 लोगों की मौत हो गयी थी और ऐसे ही नवम्बर 2022 में ऑक्सीजन बनाने वाली वेल्सेट कम्पनी में गैस स्टोरेज करते समय टैंकर का वॉल लीक कर गया था। इस प्रकार की घटनाओं में दोषियों पर कार्रवाई तो दूर प्रशासन ने सुरक्षा को लेकर भी कोई सबक नहीं लिया है। इस बार भी गैस लीक होने के बाद मौके पर जब सबसे पहले प्रशासन के लोग पहुँचे तो ख़ुद उनके पास ज़हरीली गैस से बचाव के मास्क तक नहीं थे कई सरकारी मुलाज़िम तो मौके पर पहुँचकर ख़ुद ही बेहोश हो गये। कई लोग कोरोना से बचाव वाला मास्क या रुमाल बाँधकर आये थे जो कि ज़हरीली गैस के प्रभाव को रोकने में प्रभावी नहीं था।

घटना के बाद केन्द्र व राज्य सरकारों की तरफ़ से मुआवज़े की कुछ राशि की घोषणा कर घड़ियाली आँसू बहाकर दुख प्रकट करने की औपचारिकता पूरी कर ली गयी! क्या यह काफ़ी है? जान के बदले चन्द पैसे देने की घोषणा कर देना और घटना के दोषी फ़ैक्ट्री मालिक पर कोई आँच न आने देने का खेल आसानी से खेला गया। चौबीस घण्टे का वक्त बीत जाने के बाद भी घटना के पीछे के कारण और दोषी का पता क्यों नहीं चला है? कार्रवाई के नाम पर केवल अज्ञात पर एफ़आईआर दर्ज़ कर लिया गया है, क्या केवल इतनी कार्रवाई महज़ औपचारिकता पूरा कर लेना नहीं है? गैस लीक काण्ड में अभी तक की जाँच में कोई ठोस तथ्य सामने क्यों नहीं आये हैं? आख़िर हाइड्रोजन सल्फाइड गैस इलाक़े में पहुँची कैसे? क्या हादसे के लिए सीवरेज में केमिकल का प्रवाह करने वाली फैक्ट्रियाँ ज़िम्मेदार नहीं हैं? स्थानीय पुलिस कमिश्नर सिद्धू ने घटना के बाद बयान देते हुए कहा कि यह इण्डस्ट्रियल वेस्ट कोई पहली बार नहीं डाला गया,अकसर इन सीवरेज में इण्डस्ट्रियल वेस्ट डाला जाता है। कमिश्नर को यह बात पता है तो उन्होंने इस पर कोई एक्शन क्यों नहीं लिया? कार्रवाई के नाम पर अज्ञात पर मुक़दमा दर्ज़ करने के बाद एक एसआईटी के गठन कर दिया गया,यह लीपापोती के अलावा क्या है? इस घटना पर भगवन्त मान की आम आदमी पार्टी का रवैया भी दिखलाता है कि यह पार्टी कारख़ाना मालिकों, ठेकेदारों और व्यापारियों की पार्टी है। यह जनता का नाम ज़रूर लेती है, पर सेवा पूँजीपतियों की करती है।

इस घटना के साथ-साथ ऐसे अनेक घटनाओं में ऐसे कई सारे सवाल उभरते हैं जिसका जवाब ढूँढने आप निकलेंगे तो आसानी से समझ जायेंगे कि फैक्ट्री मालिकों की क़रतूतों पर पर्दा डालने और कोई सज़ा ना देने के पीछे की वजह है यह व्यवस्था और उसे चलाने वाली सरकारें मालिकों-धन्नासेठों की हित में काम करती है। औद्योगिक कचरों को विघटित करने की तकनोलॉजी के विकास के बावजूद उद्योगपति इस पर ख़र्च करना ज़रूरी नहीं समझते, ताकि उसके मुनाफ़े में किसी तरीके से कोई कमी ना आये। सरकार और प्रशासन इनके ही हितों की नुमाइन्दगी करती है इसीलिए अपने आकाओं पर कोई कार्रवाई तो दूर उँगली उठाने की भी कोशिश नहीं करती, लुधियाना की यह घटना भी इसका अपवाद नहीं है। आज पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े को निचोड़ने की होड़ में मेहनतकश वर्गों के श्रम और साथ ही प्रकृति का निर्ममतापूर्वक दोहन कर तबाही को निमन्त्रण दे रहा है।

आज मानवता और पर्यावरण दोनों को ही इस मुनाफ़ाखोर व्यवस्था से मज़दूर-मेहनतकश वर्ग को बचाना होगा। इसके लिए वर्गीय एकता के तहत मज़दूरों के लिए सुरक्षा के उपयुक्त इन्तज़ाम की माँगों को लेकर सड़कों पर उतरना होगा। हम कोई कीड़े-मकोड़े नहीं बल्कि इंसान हैं और उपयुक्त सुरक्षा के साथ काम करने का अधिकार हमारा बुनियादी मानवीय अधिकार है। आज तात्कालिक तौर पर हमें यह माँग करनी होगी कि सरकार यह सुनिश्चित करे कि तमाम कारख़ानों में औद्योगिक कचरों का निपटारा सही रूप में हो। साथ ही रिहायशी इलाक़े कारख़ानों से उचित दूरी पर हों। जनता जब सड़कों पर होती है, तभी इस व्यवस्था के भीतर इस प्रकार के नियम लागू हो सकते हैं। हालाँकि हमें यह भी समझना होगा कि दूरगामी तौर पर वर्तमान आदमख़ोर व्यवस्था के विध्वंस और नये मानवकेन्द्रित व्यवस्था के निर्माण के ज़रिए ही प्रकृति और मानवता को बचाया जा सकता है और ऐसी घटनाओं पर रोक लगायी जा सकती है।

बेगार खटाये जाने के विरोध में ब्लिंकिट के डिलीवरी पार्टनर्स की हड़ताल!

प्रियम्वदा

ऑनलाइन डिलीवरी स्टोर ब्लिंकिट के डिलीवरी पार्टनर अप्रैल के शुरुआती हफ़्ते में देशभर में हड़ताल पर चले गये। हर डिलीवरी के लिए होने वाले भुगतान में एक बार फिर भारी कटौती के ख़िलाफ़ दो हफ़्ते तक चली इस हड़ताल में ब्लिंकिट के डिलीवरी मज़दूर काम बन्द करके सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन करने को मजबूर हुए। हड़ताल का कारण 12 अप्रैल को कम्पनी द्वारा जारी किया गया एक नोटिस था जिसमें यह कहा गया था कि डिलीवरी पार्टनर्स को प्रति डिलीवरी 25 रुपये की जगह अब 15 रुपये ही मिलेंगे। पिछले साल ब्लिंकिट ने डिलीवरी वर्कर्स का प्रति डिलीवरी भुगतान 50 रुपये से कम करके 25 रुपये कर दिया था। हर साल घटायी जा रही मज़दूरी की वजह से जहाँ ये मज़दूर पहले 1000 रुपये तक प्रतिदिन कमा लेते थे वह घटकर 200-300 रुपये तक रह गये हैं। दूसरी ओर कम्पनी ग्राहकों से पहले से ज़्यादा डिलीवरी फ़ीस वसूल रही है। इससे पहले भी देश के कई राज्यों में गिग वर्कर्स ने अपने बुनियादी हक़ों के लिए सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन किये हैं।

कौन हैं 'गिग वर्कर्स' या 'डिलीवरी पार्टनर्स'?

ऑनलाइन ख़रीददारी के बढ़ते बाज़ार ने घरों तक सेवा पहुँचाने वाले मज़दूरों की एक बड़ी फ़ौज तैयार की है। उपभोक्ताओं के घरों तक ऑनलाइन डिलीवरी के लिए ब्लिंकिट, स्विगी, अमेजन जैसी कई ऐप आधारित कम्पनियाँ जिन लोगों को ठेके पर काम पर रखती है, उन्हें ही हम डिलीवरी पार्टनर्स, ऐप बेस्ड वर्कर्स और गिग वर्कर्स के नाम से जानते हैं। भारत में पिछले एक से डेढ़ दशक में इन कम्पनियों का विस्तार बहुत तेज़ी से हुआ है। गिग का मतलब होता है 'एक बार का काम' अर्थात् काम की कोई निश्चितता नहीं होगी। समय के साथ यह शब्द सभी तरह की 'फ्रीलांसिंग' कामों के लिए इस्तेमाल होने लगा। नीति आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में साल 2019-20 में गिग वर्कर की संख्या 68 लाख़ थी जो साल 2020-21 में बढ़कर 77 लाख़ हुई। 2029-30 तक ये संख्या 2.35 करोड़ तक पहुँच सकती है, जो कि कुल मज़दूर आबादी का 4.1 फ़ीसदी है।

क्या हैं इन मज़दूरों के काम के हालात?

गिग वर्कर्स को कम्पनियाँ प्रतिदिन होने वाली डिलीवरी के हिसाब से भुगतान करती है। इस पूरे सेक्टर में लगे हुए मज़दूर रोज़ाना 12-14 घण्टे का काम करते हैं। सुबह से रात तक पीठ पर वजन उठाये ये लोग एक जगह से दूसरी जगह डिलीवरी करते हैं। TISS हैदराबाद के तत्वावधान में स्कूल ऑफ पब्लिक पॉलिसी एण्ड गवर्नेंस द्वारा किये गये एक शोध अध्ययन में, यह पाया गया कि 60% के क़रीब गिग वर्कर्स सप्ताह में सातों दिन काम करने को मजबूर हैं। इनमें से 47% ने एक दिन में 12 घण्टे से अधिक काम किया और करीब 18% को प्रतिदिन 15 घण्टे से अधिक काम करना पड़ता है।

डिलीवरी पार्टनर्स के मज़दूरों का यह विशाल समूह श्रम क़ानूनों के दायरे से बाहर है। न्यूनतम मज़दूरी, सामाजिक सुरक्षा, ईएसआई-पीएफ़ जैसी सुविधाओं को पाने का यह दावा भी नहीं कर सकते हैं। इन ऐप बेस्ड कम्पनियों का पूरा मुनाफ़ा ठेके पर रखे गये इन युवा मजदूरों के विशाल समूह के श्रम के शोषण के ज़रिए आता है। जब ग्राहकों की तरफ़ से माँग होती है, इन मज़दूरों को तभी काम दिया जाता है। माँग कम होने पर इन्हें अपनी आईडी पर लॉग-इन कर सिर्फ़ इन्तज़ार करना होता है जिसके लिए इन्हें कोई पैसे नहीं दिये जाते हैं। चूँकि कामगार फ्रीलांसर हैं और कर्मचारी नहीं, इसलिए उन्हें ऑर्डर के बीच में जितने भी घण्टे इन्तज़ार करना पड़ा हो, उसकी ज़िम्मेदारी कम्पनी की नहीं है। इन मज़दूरों को काम पर रखने के लिए कम्पनी न तो इनकी कोई ट्रेनिंग करती है और न ही उन्हें काम के लिए ज़रूरी सामान (गाड़ी, कम्प्यूटर, आदि) उपलब्ध कराती है। सामाजिक सुरक्षा का लाभ भी इन्हें मुहैया नहीं कराया जाता है। काम के दौरान होने वाली दुर्घटना पर भी किसी तरह का कोई चिकित्सकीय या स्वास्थ्य लाभ के भी ये हक़दार नहीं हैं। इसके साथ ही समय-समय पर इन कम्पनियों द्वारा बड़े पैमाने पर छँटनी की जाती है। इकोनॉमिक टाइम्स की हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ स्विगी ने हाल में अपने 380 और डेंज़ो ने क़रीब 300 कर्मचारियों को 'ले ऑफ़' दिया है।

गिग श्रमिकों की कार्यस्थिति से इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि किस तरह ये मालिकों के लिए बेगार करने, खटने और ग़ुलामी करने के लिए मजबूर हैं।

मज़दूरों की बदहाली और मालिकों की खुशहाली!!

पिछले 10 सालों में सेवा क्षेत्र (Service Sector) में अन्य क्षेत्रों के मुक़ाबले तेज़ी से वृद्धि हुई है। सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मन्त्रालय के पिछले 10 वर्ष के आँकड़ों (2011-2020) के अनुसार कृषि क्षेत्र में 3.5%, उत्पादन क्षेत्र में 5.7% और सेवा क्षेत्र में 7.8% की वृद्धि हुई है। इसके साथ ही इस सेक्टर में लगी तमाम कम्पनियों के मुनाफ़े में भी ख़ूब बढ़ोतरी हुई है। साल 2021 में स्विगी की कुल आय 2,547 करोड़ रुपये थी जो साल 2022 में दोगुना से भी ज़्यादा बढ़कर 5,700 करोड़ हो गयी। ज़ोमैटो की बात करें तो साल 2018 में इसकी कुल आय 388 करोड़ थी, जो साल 2022 में दस गुना से भी ज़्यादा बढ़कर 4106.5 करोड़ रुपये हो गयी। यानी मालिकों-पूँजीपतियों की सम्पत्ति में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोतरी और मज़दूरों को मिलती छँटनी, बेरोज़गारी, गुलामी। ज़ाहिरा तौर पर कम्पनियों के बढ़ते मुनाफ़े के पीछे मज़दूरों के मेहनत की लूट, उनकी बदहाल होती ज़िन्दगी छुपी है और इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं होती।

सत्ता में बैठी सरकार भी मेहनतकशों को लूटने के लिए पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट दे रही है और इसके लिए धड़ल्ले से नयी-नयी नीतियाँ भी लागू कर रही है। मोदी सरकार ने पिछले तमाम सरकारों का रिकॉर्ड तोड़ते हुए बचे खुचे श्रम क़ानूनों को एक झटके में ख़त्म कर दिया ताकि पूँजीपतियों के मुनाफ़े के रास्ते में किसी तरह की कोई रुकावट न आये। चार लेबर कोड के ज़रिए यह मज़दूरों को लूटने-खसोटने और जब चाहे रखने, जब चाहे बाहर करने के लिए मालिकों को पूरी आज़ादी दे रही है। फ़िक्स्ड टर्म एम्प्लॉयमेण्ट के नाम पर कम्पनियों को मज़दूरों को किसी भी अवधि के लिए ठेके पर नियुक्त करने का अधिकार बिना किसी शर्त के दे दिया गया है। यानी कि अब ठेका प्रथा को पूरी तरह से क़ानूनी जामा पहनाने की तैयारी हो चुकी है, कोई पूँजीपति मज़दूरों को क़ानूनी तरीक़े से 3 महीने, 6 महीने या साल भर के लिए ठेके पर रख सकता है और फिर उसके बाद उन्हें काम से बाहर निकाल सकता है और यह "जायज़" होगा। मज़दूर के लिए अपने हक़ों के लिए आवाज़ उठा पाना और संगठित हो पाना भी ज़्यादा से ज़्यादा मुश्किल बना दिया गया है। "कारोबार की आसानी" के नाम पर पूँजीपतियों को मज़दूरों की श्रम-शक्ति लूटने की खुली छूट देने का जो ऐलान किया गया है उसी का नतीजा है कि आज सेवा क्षेत्र में लगे मज़दूरों के हालात बदतर होते जा रहे हैं। ब्लिंकिट, ज़ोमैटो, स्विगी, अमेज़न, ओला व अन्य तमाम ऐप बेस्ड मज़दूरों को अपने शोषण के कारणों को समझना होगा तभी जाकर कहीं वे अपने संघर्ष की रणनीति बना सकते हैं।

डाक कर्मचारियों की दो बड़ी यूनियनों की मान्यता रद्द करने की कार्रवाई मज़दूर आन्दोलन पर एक और बड़ा हमला है
मगर क्या ये यूनियनें इसके ख़िलाफ़ कोई जुझारू लड़ाई लड़ पायेंगी?

सत्यम

सत्ता में आने के बाद से ही मोदी सरकार लगातार मज़दूर संगठनों पर नकेल कसने में लगी हुई है। अपने पूँजीपति आक़ाओं की सेवा के लिए श्रम क़ानूनों को लगातार कमज़ोर और निष्प्रभावी करते जाने के साथ ही श्रम अदालतों और श्रम आयुक्त कार्यालय के पूरे ढाँचे को कमज़ोर करने का काम पहले की सरकारों से कहीं ज़्यादा मुस्तैदी से इसने जारी रखा है।

वैसे तो संशोधनवादी और बुर्जुआ चुनावी पार्टियों से जुड़ी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें मज़दूर हितों से ग़द्दारी करते-करते ख़ुद ही कमज़ोर हो चुकी हैं, पर संगठित मज़दूरों-कर्मचारियों के बीच उनकी जितनी उपस्थिति है वह भी इस सरकार के लिए नाक़ाबिले बर्दाश्त है। इसलिए उनके बचे-खुचे दाँत भी तोड़ने की तरह-तरह से कोशिश हो रही है।

इसी सिलसिले में केन्द्र सरकार ने कल डाक कर्मचारियों की दो केन्द्रीय यूनियनों, नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ़ पोस्टल इम्पलाइज़ (NFPE) यूनियन ऑल इण्डिया पोस्टल इम्प्लॉइज़ यूनियन (AIPEU) की मान्यता समाप्त कर दी! 1920 में कोलकाता में गठित AIPEU देश की सबसे पुरानी यूनियनों में से एक है और NFPE इस सेक्टर में देश की सबसे बड़ी फ़ेडरेशन है। इस कठोर कार्रवाई का आधार इस आरोप को बनाया गया कि इन्होंने किसान आन्दोलन और सेंटर ऑफ़ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स (CITU) के लिए चन्दा दिया था और सीपीएम के बुक स्टोर से किताबें खरीदी थीं। इसे मनमाने ढंग से इस आरोप में बदल दिया गया कि यूनियन ने एक राजनीतिक पार्टी को चन्दा दिया जो सेन्ट्रल सिविल सर्विसेज़ (रिकगनिशन ऑफ़ सर्विस एसोसिएशन) रूल्स, 1993 का उल्लंघन है।

ग़ौरतलब है कि यह कार्रवाई आरएसएस से जुड़े भारतीय मजदूर संघ (बीएमएस) से सम्बद्ध भारतीय पोस्टल इम्प्लॉइज़ एसोसिएशन की ओर से शिकायत पर की गई है। जिस तरह संघ और भाजपा पूरे राजनीतिक विपक्ष को ख़त्म करके देश पर पूँजीपतियों की एकछत्र तानाशाही क़ायम करना चाहते हैं, उसी तरह से वे मज़दूर आन्दोलन से अपने जेबी संगठन भारतीय मज़दूर संघ के अलावा हर तरह की यूनियनों और मज़दूर संगठनों को ख़त्म कर देना चाहते हैं।

जिस तरह के आरोप लगाकर यह कार्रवाई की गयी है, वह मज़दूर आन्दोलन के लिए एक ख़तरनाक संकेत है। तमाम यूनियनें अपनी बिरादर यूनियनों, मज़दूर संगठनों या आन्दोलनों की मदद करती रही हैं। यह मज़दूरों के भाईचारे की निशानी है। कोई यूनियन किसी क्रान्तिकारी पार्टी की भागीदारी वाले किसी ऐसे आन्दोलन का समर्थन कर सकती है जो मज़दूर वर्ग की माँगों को उठा रहा है। अब इसी बात पर सरकार उस यूनियन के ख़िलाफ़ कार्रवाई कर सकती है। सीपीएम के मुख्यालय में स्थित बुकस्टोर से किताबें ख़रीदने के ज़रिए उस पार्टी को मदद पहुँचाने का आरोप तो और भी हास्यास्पद है।

कहने की जरूरत नहीं कि बुर्जुआ विपक्ष को ख़त्म करने के लिए जिस तरह के क़दम उठाये जा रहे हैं, अन्ततः उसकी भी सबसे बड़ी मार आम मेहनतकश जनता पर और जनता के क्रान्तिकारी संगठनों पर पड़नी है। इसी तरह संशोधनवादी और बुर्जुआ यूनियनों पर हो रहे हमले पूरे मज़दूर वर्ग पर और भी घातक हमलों के लिए रास्ता साफ़ करेंगे। इसलिए ऐसे हर हमले का पुरज़ोर विरोध होना चाहिए।

यह अलग बात है कि इन यूनियनों में अब ख़ुद पर होने वाले हमलों का भी सड़कों पर उतरकर विरोध करने का माद्दा और दमख़म नहीं रह गया है। NFPE के सहायक महासचिव पी.के. मुरलीधरन ने कहा है कि इस कार्रवाई का विरोध "संगठनात्मक रूप से" किया जायेगा। इनके इतिहास को देखते हुए यही लगता है कि इन्हें कुछ बयानों और काग़ज़ी कार्रवाइयों से आगे नहीं जाना है। उदारीकरण और निजीकरण के पिछले तीन दशकों के दौरान पूरे मज़दूर वर्ग पर होने वाले हमलों के जवाब में भी इनकी "विशालकाय" यूनियनें कुछ आनुष्ठानिक कार्रवाइयों से आगे कोई जुझारू प्रतिरोध नहीं कर सकीं और वास्तव में मज़दूरों-कर्मचारियों के आक्रोश पर छद्म विरोध के पानी के छींटे डालने का ही काम करती रही हैं।

ये सभी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें किसी न किसी चुनावबाज़ पार्टी से जुड़ी हुई हैं और उनके बड़े नेताओं में से कई तो संसद में भी बैठते रहे हैं। पिछले तीन दशकों के दौरान निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का बुलडोज़र मज़दूरों पर चलता रहा है, पहले से मिले हुए उनके अधिकार भी एक-एक करके छीने जाते रहे हैं और सभी पार्टियों की सरकारें इसमें शामिल रही हैं। काँग्रेस से जुड़ी इण्टक और भाजपा से जुड़ी बीएमएस के नेता तो इन नीतियों का उग्र विरोध करने की बात सोच भी नहीं सकते, मगर मज़दूरों की रहनुमाई का दावा करने वाले नकली वामपंथियों ने भी संसद में गत्ते की तलवार भाँजने और टीवी पर गाल बजाने के अलावा और कुछ नहीं किया है। करें भी कैसे? केरल और पश्चिम बंगाल में जब-जब उनकी सरकारें रही हैं, वे उन्हीं नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू करते रहे हैं – मज़दूरों को लूटने के लिए पूँजीपतियों की राह में लाल गलीचे बिछाते रहे हैं और विरोध करने पर किसानों व आदिवासियों का दमन करने में भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। लेकिन इन संशोधनवादी ग़द्दारों की मजबूरी यह है कि अपनी दुकान का शटर डाउन होने से बचाने के लिए उन्हें मज़दूरों-कर्मचारियों के बीच अपनी साख बचाये रखने के लिए कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इसीलिए वे बीच-बीच में विरोध के नाम पर साल में एकाध दिन हड़ताल या रैली की रस्मअदायगी करते रहते हैं।

ट्रेड यूनियन की बड़ी-बड़ी दुकानें चलाने वाले मज़दूर-हितों के इन सौदागरों का सबसे बड़ा आधार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में संगठित मज़दूरों-कर्मचारियों और निजी क्षेत्र के कुछ बड़े उद्योगों में काम करने वाले संगठित मज़दूरों के बीच था। निजीकरण-उदारीकरण की आँधी में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के लाखों संगठित मज़दूरों की नौकरियाँ तो गयी ही, इन धन्धेबाज़ों के ज़्यादातर तम्बू-कनात भी उखड़ गये। आज देश की 45-46 करोड़ मज़दूर आबादी में से करीब 93 प्रतिशत असंगठित मज़दूर हैं जिन्हें संगठित करने की बात तो दूर, उनकी माँग उठाना भी ट्रेड यूनियन के इन मदारियों ने कभी ज़रूरी नहीं समझा। मज़दूरों की इस भारी आबादी में सुलगते ग़ुस्से को भाँपकर अब ये न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ठेका प्रथा जैसी माँगों को भी अपने माँगपत्र में शामिल करने लगे हैं। लेकिन दशकों से टुकड़े माँगते रहने की लिजलिजी अर्थवादी राजनीति करते-करते और ट्रेड यूनियन नौकरशाही की जड़ता के चलते इनके सारे संगठन ऊपर से नीचे तक इतने ठस और जर्जर हो चुके हैं कि चाहकर भी ये अपनी ताक़त का ज़ोरदार प्रदर्शन नहीं कर सकते। ये चाहते तो हैं कि असंगठित मज़दूरों के बीच भी अपने संगठन का नया पण्डाल सजा दिया जाये लेकिन काफ़ी काँख-कूँखकर भी ये लपलप डण्डों पर फटी-पुरानी पॉलिथीन की चादर तानने के सिवा कुछ नहीं कर पाते।

कहने के लिए इनके पास लाखों की सदस्यता वाली ट्रेड यूनियनें हैं, लेकिन हर साल विरोध के अनुष्ठान की तरह दिल्ली, कोलकाता या तिरुवनन्तपुरम में एकाध रैली और एकाध हड़ताल कर देने के अलावा ये मज़दूर हितों पर किये गये किसी भी हमले के ख़िलाफ़ कोई जुझारू लड़ाई संगठित नहीं कर पाते। इनकी क़दमताल से न मज़दूरों की भारी आबादी के बीच कोई हलचल होती है और न ही सरकार के कान पर जूँ रेंगती है। सच तो यह है कि ऐसे "हानिरहित" कार्यक्रम सरकार और पूँजीपतियों का हौसला बढ़ाने का ही काम करते हैं। वे समझ जाते हैं कि बिखरे और नेतृत्वहीन मज़दूर वर्ग में अभी इतनी ताक़त नहीं है कि उनके अन्धाधुन्ध लूट अभियान की राह रोक सके। दूसरी ओर, इनके पोस्टर-बयान आदि देखकर जो मज़दूर कुछ उम्मीद पाल बैठते हैं, कार्यक्रम का हश्र देखकर उनकी हताशा-निराशा और बढ़ जाती है।

सवाल उठता है कि लाखों-लाख की सदस्य संख्या का दावा करने वाली ये बड़ी-बड़ी यूनियनें करोड़ों मज़दूरों की ज़िन्दगी से जुड़े बुनियादी सवालों पर एक-दो लाख मज़दूर भी राजधानी की सड़कों पर क्यों नहीं उतार पातीं? अगर ये सवाल इनके नेताओं से पूछा जाये तो ये बड़ी बेशर्मी से इसका दोष भी मज़दूरों पर मढ़ते हुए कह देते हैं कि जी, हमने तो बहुत कोशिश की मगर मज़दूर आने को तैयार ही नहीं होते! इससे बड़ा झूठ कोई नहीं हो सकता। सच तो यह है कि मज़दूरों की भारी आबादी भयंकर शोषण, काम की जानलेवा स्थितियों, अपमान और लगातार छँटनी-तालाबन्दी-बेरोज़गारी का कहर झेल रही है और उसके भीतर असन्तोष का लावा सुलग रहा है। बीच-बीच में वह उग्र प्रदर्शनों के रूप में फूट भी पड़ता है।

दरअसल, दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई लड़ते-लड़ते मज़दूरों की जुझारू चेतना की धार भोथरी कर देने वाले और उन्हें इसी पूँजीवादी व्यवस्था में जीते रहने की शिक्षा देने वाले ट्रेड यूनियनों के ये मौक़ापरस्त, अर्थवादी, सुधारवादी, दलाल, धन्धेबाज़ नेता अब महज़ आर्थिक माँगों के लिए भी दबाव बना पाने की इच्छाशक्ति और ताक़त खो चुके हैं। ख़ुद अपनी यूनियनों के पर कतरे जाने पर भी ये सड़क पर उतरने की हिम्मत खो चुके हैं।

संसदीय वामपंथी और उनके सगे भाई ट्रेड यूनियनवादी मौक़ापरस्त शुरू से ही मज़दूर आन्दोलन के भितरघातियों के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी-तीसरी सुरक्षा पंक्ति की भूमिका निभाते रहे हैं। आज इनका यह चरित्र इतना नंगा हो चुका है कि ये ठग मज़दूरों को अब और बरगला नहीं पा रहे हैं। मज़दूरों की भारी असंगठित आबादी के बीच तो इनकी उपस्थिति ही बहुत कम है। विकल्पहीनता में कहीं-कहीं मज़दूर इन बगुला भगतों के चक्कर में पड़ भी जाते हैं तो जल्दी ही उनकी असलियत पहचानकर दूर भी हो जाते हैं। यह एक अच्छी बात है। लेकिन चिन्ता और चुनौती की बात यह है कि सही नेतृत्व की कमज़ोरियों और बिखराव के कारण मज़दूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन अभी संगठित नहीं हो पा रहा है। किसी मज़बूत विकल्प के अभाव, अपनी चेतना की कमी और संघर्ष के स्पष्ट लक्ष्य की समझ तथा आपस में एका न होने के कारण बँटी हुई मज़दूर आबादी का एक हिस्सा अभी धन्धेबाज़ नेताओं के जाल में फँसा हुआ है।

भाँति-भाँति के चुनावी वामपंथी दलों की ट्रेड यूनियन दुकानदारियों में सबसे बड़े साइनबोर्ड सीटू और एटक के हैं जो क्रमशः माकपा और भाकपा से जुड़े हुए हैं। ये पार्टियाँ मज़दूर क्रान्ति के लक्ष्य और रास्ते को तो 75 साल पहले ही छोड़ चुकी हैं और अब संसद और विधानसभाओं में हवाई गोले छोड़ने के अलावा कुछ नहीं करतीं। जहाँ और जब इन्हें सत्ता में शामिल होने का मौका मिलता है वहाँ ये पूँजीपतियों को मज़दूरों को लूटने की खुली छूट देने में किसी से पीछे नहीं रहतीं। लेकिन अपना वोटबैंक बचाये रखने के लिए इन्हें समाजवाद के नाम का जाप तो करना पड़ता है और नकली लाल झण्डा उड़ाकर मज़दूरों को भरमाते रहना पड़ता है, इसलिए बीच-बीच में मज़दूरों की आर्थिक माँगों के लिए कुछ क़वायद करना इनकी मजबूरी होती है।

इनकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मज़दूरों के उन आर्थिक हितों और सीमित राजनीतिक अधिकारों की हिफ़ाज़त करने की भी गुंजाइश लगातार कम होती जा रही है जिनके लिए आवाज़ उठाने की कमाई माकपा-भाकपा जैसी पार्टियाँ और सीटू-एटक जैसी यूनियनें खाती रही हैं। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों ने अर्थवाद और संशोधनवाद की नकली मज़दूर राजनीति की ज़मीन ही खिसका दी है। जो भी पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार चलायेगा, उसे पूँजीवादी संकट का समाधान व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर ही ढूँढ़ना होगा। और समाधान के मामले में विकल्प सिकुड़ते जा रहे हैं। इसलिए आज एटक और सीटू जैसी ट्रेड यूनियनों के नेता कुछ हवाई गोले छोड़ने और विरोध के नाम पर कुछ नाटक-नौटंकी के सिवा कर भी क्या सकते हैं?

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा के पहले चरण (12 मार्च से 15 अप्रैल, 2023) का समापन

केशव

देशभर में फ़ासीवादी उभार के ख़िलाफ़ भगतसिंह जनअधिकार यात्रा देश के अलग-अलग राज्यों में निकाली गयी। 12 मार्च से 15 अप्रैल तक चले यात्रा के पहले चरण के दौरान जनता के बीच मोदी सरकार के शासनकाल में बढ़ती भयंकर महँगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ लाखों पर्चे वितरण किये गये। 12 मार्च से देश के 11 राज्यों में चली इस यात्रा का पहला पड़ाव 15 अप्रैल को समाप्त किया गया। दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तराखण्ड, आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, आदि राज्यों में 15 अप्रैल के दिन तमाम छात्र, नौजवान, मज़दूर-मेहनतकश आबादी इकट्ठा हुई और उन्होंने मोदी सरकार और संघ परिवार के ख़िलाफ़ दुगुनी ऊर्जा के साथ इनके चाल-चेहरे-चरित्र को बेनक़ाब करने का संकल्प लिया। अपने पहले चरण के आख़िरी दिन दिल्ली, हैदराबाद, पटना, संगरूर, सुनाम, पुणे, मुम्बई, लखनऊ, हरिद्वार समेत अन्य इलाक़ों में इस यात्रा के पहले चरण की समापन सभा की गयी। इसके अलावा यह यात्रा बनारस, इलाहाबाद, मऊ, अम्बेडकरनगर, मथुरा, कलायत, रोहतक, जयपुर, अहमदनगर समेत कई अन्य राज्यों के कई गाँवों और शहरों में चलायी गयी।

यात्रा के दौरान लोगों के बीच उनके असल मुद्दों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार को उठाते हुए यह बात रखी गयी कि मौजूदा फ़ासीवादी भाजपा सरकार बुनियादी मुद्दों से हमारा ध्यान भटकाने के लिए हमें धर्म और जाति के नाम पर बाँट रही है। साथ ही यह गोरक्षा, लव जिहाद जैसे नकली और फ़र्जी मुद्दों में हमें उलझाकर जनविरोधी नीतियाँ बना रही है और जनता की गाढ़ी कमाई को पूँजीपतियों को सौंपने का काम कर रही है। यही भाजपा जो उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा जैसे राज्यों में गोरक्षा का ढोंग करती है, उत्तर-पूर्व के राज्यों जैसे नगालैण्ड, मेघालय, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश आदि तथा गोवा व केरल में जाकर अपने सारे "संस्कार" ब्रह्मपुत्र में डुबोकर खुले तौर पर गोमांस खाने और खुद उसकी सप्लाई करने की बात करती है। लव जिहाद जैसे मुद्दों पर मुस्लिम विरोधी क़ानून बनाने वाले ये साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ख़ुद आपस में कोई धार्मिक भेदभाव नहीं करते। भाजपा के ही नेता सुब्रह्मण्यम स्वामी की बेटी ने एक मुस्लिम लड़के से शादी की, लेकिन यहाँ न तो भाजपा को कोई लव जिहाद दिखा न ही संघ परिवार को। सिकन्दर बख्त, शाहनवाज़ हुसैन, मुख्तार अब्बास नकवी जैसे न जाने कितने भाजपा के मुसलमान नेता-मंत्रियों के सम्बन्ध हिन्दू स्त्रियों के साथ हैं, लेकिन संघ और भाजपा इसपर चुप्पी साध लेते हैं, क्योंकि इन्हें न तो हिन्दुओं से कोई मतलब है न तो मुसलमानों से और लव जिहाद की नौटंकी केवल आम मेहनतकश जनता को आपस में लड़ाने के लिए की जाती है ताकि वे अपने असल मुद्दों पर एकजुट न हो सकें जैसे बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार!

भाजपा के पिछले 9 सालों के कार्यकाल नतीजा यह हुआ है कि आज देश में 32 करोड़ लोग बेरोज़गार हैं। पिछले 9 वर्षों में सरकारी नौकरी के लिए क़रीब 22 करोड़ लोगों ने आवेदन दिया, लेकिन उनमें से नौकरियाँ केवल 7 लाख लोगों को ही मिली। और यह बात तो जगज़ाहिर है कि इनमें से अधिकतर नौजवान हिन्दू हैं! नौकरियों की तलाश में ये नौजवान बेरोज़गारी में चप्पल फटकाते हैं, और भाजपा और संघ परिवार उनके गुस्से को धार्मिक उन्माद में तब्दील करने का काम करते हैं, क्योंकि जहाँ एक और लगातार छँटनी की जा रही है और नये रोज़गार पैदा करने के बजाय लोगों के रोज़गार छिन रहे हैं, वहीं दूसरी ओर महँगाई आसमान छू रही है। सिलेण्डर की क़ीमत 2014 में रु. 400 के ऊपर पहुँचने पर भाजपा नेत्री स्मृति ईरानी जो सड़कों पर सिलेण्डर लेकर प्रतिरोध को नौटंकी करती थी, आज इसकी क़ीमत के 1100 के पर पहुँचने पर दूर-दूर तक नज़र नहीं आ रही हैं। पेट्रोल के रु. 70 के पर पहुँचने पर मंच से गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने वाले मोदी जी आज इसके रु. 100 के पार पहुँचने पर ख़ामोशी के साथ बैठे हैं, क्योंकि पेट्रोल-डीज़ल पर और यहाँ कि खाने-पीने की वस्तुओं पर टैक्स बढ़ाकर उस सरकारी घाटे को पूरा करना है, जो अडानी, अम्बानी, टाटा, बिड़ला आदि को टैक्स से छूट, फ्री बिजली, फ्री जमीन, फ्री पानी, सौंपकर सरकार को हो रहा है। यानी, पूँजीपतियों को पूजो और आबादी करो, जनता को लूटो और बरबाद करो।

आज हमें इस बात को समझने की ज़रूरत है कि यह सरकार जाति-धर्म के सारे ढोंग हमारी जेब पर डाका डालने के लिए कर रही है। यह एक हाथ से हमारे जेब से पैसे निकालती है और दूसरे हाथ से अडानी और पूँजीपतियों की जेब में डालती है। स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया, एलआईसी समेत जनता की तमाम गाढ़ी कमाई को अडानी को दे दिया जाता है और जनता पर अतिरिक्त कर डालकर इसे वापस जनता से ही वसूला जाता है। इसलिए आज यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि हम इनकी इस चाल को समझें। इनकी पूरी राजनीति आम मेहनतकश जनता के विरुद्ध और पूँजीपतियों के पक्ष में जाती है। इसलिए आम मेहनतकश आबादी को अपने मुद्दों पर एकजुट होना होगा।

भगतसिंह जनअधिकार यात्रा इन्हीं विशेष मुद्दों को उठाते हुए सड़को पर उतरी है जिसके पहले चरण में देशभर के तमाम क्रान्तिकारी संगठन, संजीदा छात्र-नौजवान और नागरिक शामिल हुए। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी द्वारा शुरू की गयी इस यात्रा के पहले चरण का समापन अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग कार्यक्रमों के ज़रिए किया गया।

यात्रा के अगले चरण की शुरुआत हो चुकी है जो कि 10 मई को दिल्ली में भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के पहले राष्ट्रीय सम्मेलन में समाप्त होगा, जिसमें देश भर से यात्रा टोलियों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। 10 मई हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक दिवस है। 1857 में 10 मई को ही अंग्रेज़ों की लुटेरी कम्पनी सरकार हमारे देश के हिन्दू-मुसलमान मेहनतकश लोगों ने मिलकर बग़ावत का बिगुल फूँका था। आज मोदी के नेतृत्व देशी लुटेरी की नयी कम्पनी सरकार यानी अम्बानी-अडानी की सरकार जनता का खून चूस रही है। आज नये सिरे से इसके द्वारा लायी गयी भ्रष्टाचार, महँगाई और बेरोज़गारी के खिलाफ विद्रोह की आवाज़ उठाने की ज़रूरत है।

अतीक अहमद की हत्या और “माफ़िया-मुक्त” उत्तर प्रदेश के योगी के दावों की असलियत

अपूर्व मालवीय

पिछले 15 अप्रैल की रात को प्रयागराज के कॉल्विन अस्पताल में इलाहाबाद के कुख्यात माफ़िया और पूर्व सांसद अतीक अहमद और उसके भाई अशरफ अज़ीम की गोली मारकर हत्या कर दी गयी । गोली मारने वाले 18 से लेकर 23 साल के तीन नौजवान थे। इन तीनों ने गोली मारने के बाद "जय श्री राम" के नारे लगाये और वहीं पुलिस के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इस हत्या के बाद यूपी की सियासत में उफान आ गया। गोदी मीडिया से लेकर तमाम तरह के क़लमघसीट पत्रकारों ने इस हत्याकाण्ड के बाद से बुलडोजर बाबा के "माफ़िया मुक्त राज" और "न क़र्फ़्यू न दंगा, सब चंगा" का नारा लगाते हुए योगी सरकार की तारीफ़ों के पुल बाँधने में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन क्या पिछले कुछ सालों से योगी सरकार की माफ़ियाओं पर कार्यवाही से यूपी में सब चंगा हो गया है या इसमें भी कोई पंगा है?

अगर सिर्फ़ तथ्यों और आँकड़ों की बात की जाये तो यहाँ मामला उल्टा नज़र आता है। **नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो** के अनुसार यूपी में पिछले तीन सालों में अपराध की दर 15.7 व्यक्ति प्रति लाख तक पहुँच गयी है जो 5.4 व्यक्ति प्रति लाख के राष्ट्रीय औसत के तीन गुना है। इस भयमुक्त प्रदेश में पिछले छः सालों में स्त्रियों-दलितों-वंचितों के ख़िलाफ़ अपराध बढ़ने के साथ ही जघन्य हत्या, चोरी-डकैती जैसे अपराधों में लगातार बढ़ोत्तरी हुयी है। माफ़ियाओं और गुन्डों के ऊपर बुलडोजर चलाने और उनकी सम्पत्ति कुर्क करने वाले बाबा का बुलडोजर बृजभूषण शरण सिंह (भाजपा सांसद और भारतीय कुश्ती संघ का अध्यक्ष) के ऊपर नहीं चलता है जो दाऊद इब्राहिम के गुर्गों को छुपाने के ज़ुर्म में टाडा कानून के तहत कभी तिहाड़ जेल हो आया है और आजकल इसके ख़िलाफ़ सैकड़ों महिला पहलवानों के यौन शोषण का आरोप लगाते हुए इसकी गिरफ़्तारी और एफआईआर दर्ज़ करने की माँग को लेकर भारतीय कुश्ती संघ के कई राष्ट्रीय खिलाड़ी धरना दे रहे हैं। बाबा का बुलडोजर माफ़िया बृजेश सिंह (106 केस), धनंजय सिंह (46 केस), रघुराज प्रताप सिंह (31 केस), कुलदीप सिंह सेंगर (28 केस) ... आदि-आदि सैकड़ों बाहुबलियों-अपराधियों पर नहीं चलता है जिनके ऊपर हत्या, अपहरण, फिरौती, बलात्कार जैसे जघन्यतम अपराध के इल्ज़ाम हैं। यूपी विधानसभा के ही 403 विधायकों में से 205 पर ही संगीन अपराध के मुक़दमे हैं। **क्या बाबा का बुलडोजर इनपर चलेगा? जवाब है, नहीं! क्योंकि सुबह का अपराधी अगर शाम को भाजपा में आ जाये, तो उसे अपराधी नहीं, “राष्ट्रवादी” कहते हैं!**

बहरहाल, बुर्जुआ पार्टियों के पक्ष-विपक्ष व आरोप-प्रत्यारोप के साथ ‘लोकतन्त्र की हत्या बनाम माफिया की हत्या’ से अलग इस पूरे मसले के कई पक्ष हैं। इस पर चर्चा करने से पहले इस हत्या और उसके बाद की पृष्ठभूमि की चर्चा जरूरी है।

आजीवन उम्रक़ैद की सज़ा काट रहे माफिया अतीक अहमद को इसी साल फरवरी में हुये उमेश पाल हत्याकाण्ड में पूछताछ के लिए अहमदाबाद के साबरमती जेल से प्रयागराज के नैनी जेल में शिफ्ट किया गया। 15 अप्रैल को अतीक और उसके भाई की हत्या से ठीक दो दिन पहले उमेश पाल हत्याकाण्ड के ही अभियुक्त उसके बेटे असद और शूटर गुलाम को एक एनकाउण्टर में मार दिया गया था।

अतीक के बेटे व उसके शूटर की एनकाउण्टर में मौत जहाँ राज्य प्रायोजित हत्या थी, वहीं ये भी साफ़ है कि अतीक व उसके भाई की हत्या सत्ताधारी राजनीतिक दल के संरक्षण के बिना सम्भव नहीं हो सकती थी। इस हत्या में शामिल हत्यारों और उनके उद्देश्यों से ये साफ़ झलकता है कि यह बहुत सोच-समझकर बनायी गयी रणनीति का नतीजा है। क्योंकि सवाल ये है कि एक दूसरे से अपरिचित तीन अलग-अलग इलाकों से आने वाले ये हत्यारे अतीक अहमद को मारने के लिए एक साथ कैसे आ गये? दूसरे, ये तीनों ग़रीब और निम्नमध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आते हैं, जबकि हत्या में प्रयुक्त पिस्टल की क़ीमत सात से आठ लाख तक की है। ये इन्हें कैसे मिल गयी? तीसरे, इन्होंने दावा किया है कि ये नाम कमाने और बड़ा माफिया बनने के लिए ही इस घटना को अन्जाम दिये, जबकि इन्हें उन 17 पुलिसकर्मियों का कोई डर क्यों नहीं लगा कि जवाबी कार्यवाही में इन्हें भी मारा जा सकता है? इसके साथ अन्य बहुत सारे सवाल भी इस हत्याकाण्ड के प्रायोजित होने की ओर इशारा कर रहे हैं।

वहीं दूसरी तरफ गोदी मीडिया और तमाम भाड़े के क़लमघसीट पत्रकार राज्य प्रायोजित और संरक्षित हत्याओं पर वैधानिक मुहर लगाने, उसे जायज़ ठहराने और "जैसे को तैसा" वाले आदिम बर्बर न्याय सिद्धान्त को अमली जामा पहनाने की मुहिम को ज़ोर-शोर से शुरू कर दिये हैं!

गोदी मीडिया में जिस प्रकार की ख़बर चलायी गयी और जिस प्रकार के बयान योगी के मन्त्रियों और नेताओं की तरफ़ से सामने आये, उससे ये अन्दाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है कि ये हत्या प्रायोजित थी। इस हत्या का टारगेट कोई "माफिया नहीं" बल्कि उसकी धार्मिक पहचान थी। निश्चय ही अतीक माफिया और अपराधी था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि योगी सरकार के तमाम विधायक हैं। लेकिन उसे भी तय कानून के अनुसार सज़ा मिलनी चाहिए थी। यही अतीक अहमद 2018 में फूलपुर के चुनाव में भाजपा के साथ अनकही साँठ-गाँठ किये हुए था और उसने भाजपा को वोटकटुआ बनकर जीतने में मदद की थी। कहीं ऐसा तो नहीं कि अतीक के ज़िन्दा रहने पर कई ऐसे राज़ उजागर होते, जिससे अजय सिंह बिष्ट यानी योगी के शासन को असुविधा होती? इन सवालों के जवाब अतीक के साथ ही ख़त्म हो गये।

असल में पिछले कुछ सालों से योगी यूपी में जिस प्रकार हिन्दुत्व की भावना को पोषित करके भविष्य के हिन्दुत्ववादी फासीवादी नायक की भूमिका में अपने को स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं, उसमें अतीक और मुख़्तार जैसे माफियाओं को ही मोहरा बनना है। फ़ासीवाद की ज़मीन एक सख़्त, कठोर नायक और उसकी तानाशाही को स्थापित करती है और उसके कर्मों (कुकर्म) को जायज़ ठहराती है। योगी, अतीक, मुख़्तार-अंसारी, आज़म-खाँ, अकबर-बंजारा जैसे मुस्लिम अपराधियों को निशाना बनाकर बहुसंख्यक हिन्दुओं में "दुश्मन" के साथ सख़्ती से निपटने वाली छवि को पेश करने की कोशिश कर रहा है, जो भविष्य में उसे हिन्दुत्व के नायक के तौर पर स्थापित कर सके। और इस काम के लिए उसके हाथ में राज्य मशीनरी होने के साथ ही साथ आरएसएस द्वारा खड़े किये गये सैकड़ों हिन्दुत्व के कट्टरपन्थी संगठन भी मौजूद हैं। अतीक को मारने वाला लवलेश तिवारी बजरंग दल से जुड़ा हुआ है और अपने आप को ‘बजरंग दल का सह सुरक्षा प्रमुख’ बताता है। यह एक ड्रग एडिक्ट होने के साथ ही एक लड़की को थप्पड़ मारने के ज़ुर्म में जेल भी हो आया है। इसने अपने फेसबुक पर लिखा है कि "मुझे शराब की तरह ही हिन्दुत्व की आदत है और जो जय श्री राम नहीं बोलता उसके ख़ून में ही कोई कमी है!"

ये तीनों हत्यारे गरीब-निम्नमध्यवर्गीय परिवारों से आते हैं। इसमें किसी के पिता ऑटो चालक हैं तो कोई गोलगप्पे बेचकर अपना घर चला रहा है। तीनों लम्बे समय से बेरोजगार हैं और हिन्दुत्व को बचाने का ठेका लिये घूम रहे हैं।

पूँजीवादी समाज व्यवस्था में अपराधमुक्त, गुंडामुक्त, माफिया मुक्त समाज की कल्पना करना एक मुग़ालते में ही जीना है। वैसे भी जब सबसे बड़ी गुण्डावाहिनी ही सत्ता में हो, तो प्रदेश को गुण्डामुक्त व अपराधमुक्त करने की बात पर हँसी ही आ सकती है। पूँजीवादी समाज की राजनीतिक-आर्थिक गतिकी छोटे-बड़े माफियाओं को पैदा करती है। भारत के पिछड़े पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ चुनावों में धनबल-बाहुबल की भूमिका हमेशा प्रधान रही है और इस कारण तमाम बुर्जुआ क्षेत्रीय पार्टियों से लेकर राष्ट्रीय पार्टियों तक में इन माफियाओं की जरूरत हमेशा से मौजूद रही है। यह भी गौर करने वाली बात है कि 90 के दशक में जैसे-जैसे उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को आगे बढ़ाया गया वैसे-वैसे भू माफिया, शराब माफिया, खनन माफिया, शिक्षा माफिया, ड्रग्स माफिया...आदि-आदि का जन्म तेजी से होता रहा। समय के साथ-साथ माफियाओं की आपसी रंजिश या उनके राजनीतिक संरक्षण में परिवर्तन से किसी माफिया की सत्ता का जाना और उस क्षेत्र में नये माफियाओं का आना चलता रहा है।

अतीक और मुख़्तार अंसारी से लेकर बृजेश सिंह, धनंजय सिंह, बृजभूषण शरण सिंह जैसे अपराधी किसी न किसी रूप में इस बुर्जुआ व्यवस्था में बने रहेंगे। इन डॉनों-माफियाओं-गुंडों को तमाम राजनीतिक दल अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति (चाहे वोट बैंक हासिल करने, राजनीतिक विरोधियों को किनारे लगाने, आर्थिक तौर पर मजबूत होने आदि-आदि) करने के लिए अपने में सम्मिलित करते रहेंगे या प्रश्रय व संरक्षण देने का काम करते रहेंगे। मौजूदा मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था में इस समस्या का समाधान सम्भव ही नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध लेख बालज़ाक ने कहा था, ‘हर सम्पत्ति साम्राज्य की बुनियाद में अपराध होता है।’

भाजपा के ‘लव जिहाद’ की नौटंकी की सच्चाई

(पेज 16 से आगे)

फ़ासीवादी आन्दोलन भी यही कर रहा है। ‘लव जिहाद’ का पूरा मसला ही इन बेहूदा और पिछड़े हुए अवैज्ञानिक ख़यालात पर टिका है और एक फर्जी मसला है।

जब हम बेरोज़गारी और महँगाई तथा आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा व अनिश्चितता से त्रस्त होते हैं, तो ऐसे बकवास मसले उठाकर हमारी आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा को ग़लत तरीके से पेश करके फ़ासीवादी ताक़तें एक दूसरे किस्म की झूठी असुरक्षा को जन्म देती हैं। हमें एक पराये समुदाय (अन्य) का भय दिखाया जाता है, मसलन, मुसलमान बहुसंख्यक हो जायेंगे, “हमारी औरतों” पर कब्ज़ा कर लेंगे, हमारी ज़मीनें हथिया लेंगे, आदि। हिटलर ने यही काम यहूदियों के साथ किया था। तब भी वह झूठ था और आज भी मुसलमानों के बारे में संघ परिवार व मोदी सरकार द्वारा किया जा रहा यह प्रचार झूठ है और एक नक़ली डर पैदा करके एक नक़ली दुश्मन खड़ा करना मोदी सरकार और संघ परिवार की साज़िश है ताकि हम मज़दूर-मेहनतकश और आम मध्यवर्गीय लोग अपने असली दुश्मन, यानी सेठों-व्यापारियों-धनपशुओं के पूरे वर्ग और उनकी नुमान्दगी करने वाली मोदी सरकार को न पहचान सकें और धार्मिक उन्माद और नक़ली किस्म के भय में बहकर अपने ही मुसलमान भाइयों और बहनों के साथ सिर-फुटौव्वल करें। ओवैसी जैसे इस्लामी कट्टरपन्थी भी अन्दर ही अन्दर इस काम को अंजाम देने में भाजपाइयों के साथ हैं क्योंकि उनकी सिगड़ी भी तभी सुलगती है, जब संघियों का दंगाई तन्दूर गर्म होता है।

इसलिए मेरे दोस्तो, मेरे भाइयो, मेरी बहनो! ‘लव जिहाद’ की झूठी नौटंकी में बिल्कुल मत फँसना। यह अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने नहीं, बल्कि खड़ी कुल्हाड़ी पर कूदने के समान है। अपने असली मसले पहचानो: बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, स्त्री-विरोधी अपराध, साम्प्रदायिकता। 2024 के चुनावों के पहले मोदी-शाह की जोड़ी धार्मिक उन्माद और अन्धराष्ट्रवाद भड़काने के लिए हर कोशिश करेगी क्योंकि उन्हें भी समझ में आ रहा है कि उनके सितारे गर्दिश में हैं। इसलिए अगर कोई नया पुलवामा काण्ड हो जाये, कहीं और आतंकवादी हमला हो जाये, सीमा पर अचानक पाकिस्तानी घुसपैठ हो जाये, फासीवादी नेता पर कोई जानलेवा हमला हो जाये (जिसमें तयशुदा तौर पर वह फ़ासीवादी नेता बाल-बाल बच जायेगा!), तो ताज्जुब मत कीजियेगा! जब भी भाजपा चुनाव हारने वाली होती है, तो ऐसा कुछ हो जाता है: मसलन, पहले भी संसद पर आतंकवादी हमला हो गया था, कारगिल में घुसपैठ हो गयी थी, गुजरात दंगे हो गये थे, दिल्ली में दंगे हो गये थे, और पुलवामा हमला हो गया था। माने कि जब भी भाजपा वाले दिल से कुछ चाहते हैं तो समूचा ब्रह्माण्ड उनकी इच्छा पूरी करने में लग जाता है, और जब भी वे चुनाव हारने वाले होते हैं, तो उसी समय आतंकवादी सोचते हैं कि क्यों न कोई हमला कर दिया जाय, उसी समय पाकिस्तान के हुक्मरान सोचते हैं कि बड़े दिन हो गये आज सीमा पर घुसपैठ कर देते हैं, या अचानक उसी दिन बरसों से आपस में प्यार से रह रहे हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा शुरू होता है और दंगा हो जाता है!

इसलिए आज जब कि मोदी सरकार की हालत पूरे देश में पतली होती जा रही है, तो आप भाइयों-बहनों से यह कहना चाहूँगी कि उपरोक्त किस्म की “आकस्मिक घटनाओं” के लिए 2024 के चुनावों के पहले तैयार रहियेगा और अगर ऐसी घटना होती है, तो मानकर चलियेगा कि इसके पीछे दाल में कुछ काला है। पुलवामा के मसले का सच तो सामने आ ही गया, आप स्वयं देख सकते हैं। एक बार बेवकूफ़ बनने वाले को मूर्ख कहते हैं लेकिन जो एक ही ट्रिक से बार-बार मूर्ख बने, उसे बुड़बक कहते हैं। आप बुड़बक तो हैं नहीं, हैं क्या?

तेलंगाना में भाजपा व संघ परिवार की लगातार बढ़ती घुसपैठ और केसीआर की खोखली प्रतीकवादी राजनीति: जनता के वास्तविक मुद्दे सिरे से ग़ायब

आनन्द

कर्नाटक के रास्ते दक्षिण भारत में प्रवेश करने के बाद हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी दानव तेलंगाना में भी तेज़ी से अपने पैर पसार रहा है। अभी कुछ वर्षों पहले तक तेलंगाना में भाजपा व संघ परिवार का नगण्य आधार था, परन्तु पिछले चन्द वर्षों में तेलंगाना में तीव्र पूँजीवादी विकास के नतीजे के रूप में पैदा हुए सामाजिक असन्तोष, असुरक्षा व अनिश्चितता और क्रान्तिकारी ताक़तों की ग़ैर-मौजूदगी का लाभ उठाते हुए अपने सामाजिक आधार का ज़बर्दस्त विस्तार किया है। प्रदेश में इस वर्ष के अन्त में होने वाले विधान सभा चुनावों में भाजपा भले ही सबसे बड़ी पार्टी न बन पाए, लेकिन इसकी पर्याप्त सम्भावना है कि वह मुख्य विपक्षी दल के रूप में कांग्रेस को पीछे छोड़ देगी और अगले लोकसभा चुनावों में भी भाजपा को तेलंगाना से काफ़ी सकारात्मक नतीजे की उम्मीद है। यही वजह है कि पिछले एक साल के दौरान मोदी और शाह कई बार तेलंगाना का दौरा कर चुके हैं और अनेक रैलियों को सम्बोधित कर चुके हैं। मुख्यमन्त्री के. चन्द्रशेखर राव (केसीआर) के नेतृत्व वाली तेलंगाना की भारत राष्ट्र समिति (बीआरएस) सरकार के ख़िलाफ़ लोगों के बढ़ते असन्तोष का लाभ भी किसी अन्य विपक्षी पार्टी की बजाय भाजपा को ही मिलने की सम्भावना है। अपने सिकुड़ते जनाधार को बचाने के लिए बीआरएस एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही है, लेकिन फिर भी तेलंगाना में संघ परिवार की घुसपैठ लगातार बढ़ती जा रही है।

ग़ौरतलब है कि 2018 के विधान सभा चुनावों में भाजपा को 119 सीटों में से महज़ एक सीट मिली थी। लेकिन उसके बाद से भाजपा का ग्राफ़ लगातार ऊपर गया है। 2019 के लोकसभा चुनावों में भाजपा को तेलंगाना की 19 लोकसभा सीटों में 4 सीटों पर जीत मिली। उसके बाद दो उपचुनावों (हुजूराबाद और दुब्बक) में भी भाजपा को चुनावी सफलता मिली। पिछले साल मुनुगोडे विधानसभा उपचुनाव में भाजपा दूसरे स्थान पर रही और संशोधनवादी वाम दलों के समर्थन की वजह से टीआरएस (अब बीआरएस) जीत पायी। इसके अलावा ग्रेटर हैदराबाद म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन के चुनावों में भी भाजपा को अभूतपूर्व संख्या में वोट मिले थे।

उपरोक्त आँकड़ें इस ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि तेलंगाना में भाजपा का जनाधार बढ़ रहा है। केवल चुनावी राजनीति में ही नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी भाजपा व संघ परिवार की घुसपैठ लगातार बढ़ी है। इसका नज़ारा रामनवमी और हनुमान जयन्ती जैसे त्योहारों पर देखा जा सकता है जब पूरा हैदराबाद शहर भगवामय हो जाता है। जगह-जगह विशाल शोभा यात्राएँ निकाली जाती हैं जिनमें 'जय श्री राम' और 'मन्दिर वहीं बनाएँगे' जैसे नारे जमकर लगाए जाते हैं और साम्प्रदायिक नफ़रत में डूबी भड़काऊ बयानबाज़ियाँ भी की जाती हैं। पिछले कुछ वर्षों के दौरान इस प्रकार की साम्प्रदायिक यात्राओं की संख्या और उनके आकार में लगातार बढ़ोत्तरी होती आयी है जो संघ परिवार के बढ़ते जनाधार का ही एक सूचक है। केवल त्योहार ही नहीं बल्कि आम तौर पर भी संघ परिवार द्वारा प्रायोजित धार्मिक जुलूसों, भजन-कीर्तन मण्डलियों की शिनाख़्त साफ़ तौर पर की जा सकती है।

तेलंगाना में अपने विस्तार के लिए भाजपा साम-दाम-दण्ड-भेद सभी हथकण्डों का इस्तेमाल कर रही है। चूँकि भाजपा के पास अपने बड़े नेता नहीं है इसलिए वह अन्य पार्टियों के असन्तुष्ट नेताओं को लालच देकर ख़ुद में शामिल करने में ज़रा भी देर नहीं कर रही है। हुजूराबाद और दुब्बक के उपचुनावों में उसने इसी तिकड़म का इस्तेमाल करके जीत हासिल की। इसके अलावा वह वर्गीय व जातीय समीकरणों का भी इस्तेमाल कर रही है। देश के अन्य हिस्सों की ही भाँति तेलंगाना के गाँवों में भी हाल के वर्षों में कृषि में पहले से अधिक तेज़ी से पूँजीवादी विकास हुआ है जिसकी वजह से किसान आबादी में विभेदीकरण भी पहले से कहीं तेज़ी से बढ़ा है। खेती-बाड़ी के संकट की वजह से छोटे व मँझोले किसानों में ज़बर्दस्त असन्तोष व्याप्त है जिसका लाभ भाजपा उठाना चाह रही है। ग़ौरतलब है कि तेलंगाना में भूस्वामी व बड़े किसानों की बड़ी आबादी वेलमा और रेड्डी जैसी जातियों से आती है जिनके बीच अभी तक बीआरएस का आधार रहा है। छोटी व मँझोली किसान आबादी की बहुतायत मध्य जातियों (जैसे मुन्नुरू कापू, मुदिराज, पद्मशाली और गोल्ला) से आती है। भाजपा इन मध्य जातियों और छोटे व मझौले किसानों के बीच अपना आधार फैलाने की लगातार कोशिशें कर रही है। इसके अलावा भाजपा अपने चिर-परिचित अन्दाज़ में लगातार मुस्लिम-विरोधी नफ़रती माहौल बनाकर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करते हुए समूची हिन्दू आबादी की प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक गोलबन्दी करने की भी कोशिश करती रहती है। ओवैसी की पार्टी द्वारा केसीआर को समर्थन देने का हवाला देते हुए भाजपा नेता अक्सर ये बात फैलाते हैं कि तेलंगाना में निज़ाम राज़ क़ायम है और उससे निजात पाने के लिए भाजपा को सत्ता में लाना होगा। हाल ही में अमित शाह ने एक रैली के दौरान तेलंगाना में मुस्लिमों को दिये जाने वाले 4 प्रतिशत आरक्षण को भी ख़त्म करने का वायदा किया जो भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति से ही प्रेरित है। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम ध्रुवीकरण करने के अपने पुराने हथकण्डे के ज़रिये भी अपना आधार विस्तारित करने की फ़िराक़ में है।

भाजपा के बढ़ते जनाधार को देखकर केसीआर की बीआरएस को सत्ता खोने की चिन्ता सताने लगी है। कुर्सी बचाने के लिए वह एक ओर खोखले प्रतीकवाद का सहारा ले रही है तो दूसरी ओर लोगों में खैरात बाँटकर अपना दरकता वोटबैंक बचाने की कोशिशों में लगी है। हाल ही में केसीआर ने हैदराबाद के बीचोंबीच 125 फ़ीट ऊँची अम्बेडकर प्रतिमा का अनावरण किया जिसे बनाने में लगभग डेढ़ सौ करोड़ रुपये ख़र्च हुए। इस कार्यक्रम का बड़े पैमाने पर प्रचार-प्रसार किया गया और इसे बीआरएस के दलित-हितैषी होने के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस प्रकार के खोखले प्रतीकवाद से आम दलित आबादी का कुछ नहीं भला होने वाला है। तेलंगाना की अधिकांश दलित आबादी भी गाँवों में खेतिहर मज़दूरी और शहरों में अनौपचारिक क्षेत्र में अमानवीय हालात में मज़दूरी करती है और उसके लिए बीआरएस के पास कोई योजना नहीं है। कहने को तो इस सरकार ने रय्यतु बन्धु व दलित बन्धु स्कीमें लॉन्च की हैं जिसके तहत किसानों व दलितों को ख़ैरात बाँटी जा रही है। परन्तु इन स्कीमों का फ़ायदा भी धनी किसानों और दलितों के बीच एक छोटी सी समृद्ध आबादी को ही हुआ है। लगातार बढ़ती महँगाई की वजह से छोटे किसानों और मज़दूरों की ज़िन्दगी के हालात बद से बदतर होते जा रहे हैं। रोज़गार के अवसर अव्वलन तो उपलब्ध नहीं हैं और जो थोड़े-बहुत उपलब्ध भी हैं उनके लिए एक अनार सौ बीमार वाली हालत है।

इन मूलभूत मुद्दों पर केसीआर की सरकार ने आम मेहनतकश आबादी के लिए कुछ भी नहीं किया है और उल्टे उन्होंने नवउदारवाद की ही नीतियों को बेशर्मी के साथ आगे बढ़ाया है। केसीआर अब ख़ुद को राष्ट्रीय नेता के रूप में स्थापित करने की हास्यास्पद कोशिश में लगे हैं। इसी वजह से उन्होंने अपनी पार्टी का नाम टीआरएस से बदलकर बीआरएस रखा है। अब वे अगले लोकसभा के चुनावों में तीसरा मोर्चा बनाने की कोशिशों में लगे हैं। वैसे तो वे भाजपा की हिन्दुत्ववादी राजनीति के ख़िलाफ़ गरमागरम बयानबाज़ी करते हैं, लेकिन व्यवहार में लोगों को देने के लिए महज़ हिन्दुत्ववाद का नरम संस्करण ही है। हाल ही में उन्होंने यह वायदा किया है कि वे तेलंगाना में देश की सबसे बड़ी हनुमान प्रतिमा बनवाएँगे जिसके लिए उन्होंने राज्य के राजकोष से 1000 करोड़ रुपये आवन्टित करने का भी वायदा किया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के की खोखली नरम हिन्दुत्ववादी लाइन का फ़ायदा अन्ततोगत्वा भाजपा व संघ परिवार की कट्टर हिन्दुत्ववादी लाइन को ही होगा।

ऐसे में ज़रूरत है कि समूचे देश की राजनीति में सर्वहारा विकल्प खड़ा करने के एक अंग के रूप में ही तेलंगाना में व्यापक मज़दूर, मेहनतकश, ग़रीब व मँझोली किसान आबादी और निम्न-मध्यवर्गीय आबादी को उसके असल मुद्दों पर एकजुट किया जाय, यानी बेरोज़गारी, बढ़ती महँगाई, भ्रष्टाचार और ग़रीबी-भुखमरी। लोगों को यह सच्चाई बताने की शिद्दत से ज़रूरत है कि सभी पूँजीवादी दलों की आर्थिक नीतियाँ इन समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार हैं, लेकिन विशेष तौर पर फ़ासीवादी मोदी सरकार की नीतियाँ इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। वजह यह कि सेठों-धनी व्यापारियों, मालिकों-ठेकेदारों के तलवे चाटने का काम जिस वफ़ादारी से भाजपा और उसकी मोदी सरकार करती है, उससे प्रतिस्पर्द्धा करने में बाकी सारे पूँजीवादी दल आज नाकाम हैं। यही कारण है कि दक्षिण के राज्यों में भी भाजपा पूँजीपति वर्ग की चहेती बनती जा रही है, जो उन्हें श्रम कानूनों, तमाम बाधाओं, विनियमनों से मुक्त कर मज़दूरों-मेहनतकशों को लूटने की पूरी छूट दे। भाजपा आज तेलंगाना में हिन्दू-मुसलमान ध्रुवीकरण करने में कुछ कामयाबी हासिल कर रही है, तो इसकी बीआरएस और केसीआर की नाक़ामी के तात्कालिक कारणों के अलावा प्रमुख आधारभूत कारण पूँजीपति वर्ग में भाजपा के प्रति बढ़ता झुकाव है। इसके बिना, कभी भी कोई फ़ासीवादी राजनीति साम्प्रदायिक उन्माद को नहीं भड़का पाती है। पूँजी का समर्थन इसके लिए अनिवार्य होता है।

2024 से पहले अन्धराष्ट्रवाद व साम्प्रदायिक उन्माद की लहर उठाने की कोशिशों से सावधान रहें!

(पेज 9 से आगे)

से दूर होती शिक्षा, चिकित्सा और रिहायश, अभूतपूर्व रूप से बढ़ता भ्रष्टाचार, पूँजीपतियों को फोकट में जनता की मेहनत से खड़ी सम्पदा को सौंपा जाना, आदि। ये हमारे असल मसले हैं और हमें इन्हीं पर अड़कर खड़े हो जाना चाहिए, चाहे 2024 के आम चुनावों के पहले उपरोक्त में से कोई भी संयोग घटित क्यों न हो जाये, जैसे कि साम्प्रदायिक दंगा, युद्ध या आतंकी हमला, अपना ध्यान भटकने न दें।

इसके अलावा, हमें ईवीएम के खिलाफ देश स्तर पर एक जनान्दोलन खड़ा करने की ज़रूरत है। तमाम बुर्जुआ विपक्षी पार्टियों में यह दम नहीं बचा कि वह इस मसले को उठाकर यह अल्टीमेटम दे दें कि यदि ईवीएम को बन्दकर बैलट बॉक्स की व्यवस्था बहाल नहीं की जाती तो वे सभी चुनावों का बहिष्कार करेंगे। ऐसे में, जनता को ही एकजुट होकर आवाज़ उठानी होगी। ईवीएम वास्तव में पूँजीवादी जनवाद को भी फ़ासीवाद द्वारा हड़प लिये जाने के वास्ते इस्तेमाल किया जा रहा है। **क्या आपको पता है कि मोदी के सितारों के गर्दिश में जाने की शुरुआत होते ही यह ख़बर आयी कि एक-तिहाई वीवीपैट मशीनें ख़राब हो गयीं, जिसके आधार पर आप वोट डालने के बाद यह जाँच कर सकते हैं कि आपका वोट उसी उम्मीदवार को गया है, जिसे आपने वोट डाला है! यानी 6.5 लाख वीवीपैट मशीनें ख़राब हो गयीं और इसके बारे में कहीं कोई ख़बर तक नहीं आयी!** ज़ाहिर है, भाजपा का आखिरी सहारा ईवीएम हो सकता है। यह दीगर बात है कि पूरे देश के पैमाने पर इतनी बड़ी धाँधली भयंकर सामाजिक असन्तोष और उथल-पुथल की स्थिति पैदा करेगी। फ़ासीवादी ताक़तें उस स्थिति की भी तैयारी कर रही हैं और अपने सशस्त्र व अर्द्धसशस्त्र दस्तों को तैयार कर रही हैं। फ़ासीवादी मोदी सरकार इतनी आसानी से सत्ता की कुर्सी नहीं छोड़ने वाली है। ऐसे में, मज़दूरों, मेहनतकशों, ग़रीब किसानों, निम्न मध्यवर्ग के लोगों को सावधान हो जाना चाहिए। 'आकाश के नीचे सबकुछ भयंकर उथल-पुथल में है', यह जनता के तैयार होने पर एक 'शानदार स्थिति' भी हो सकती है, और जनता के तैयार न होने पर किसी और भी ज़्यादा तानाशाहाना उभार की पूर्वपीठिका भी बन सकती है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि यह समय है अपनी मनोगत शक्तियों को तैयार और संगठित करने का, बेरोज़गारी, महँगाई आदि के प्रश्न पर जुझारू जनान्दोलन खड़ा करने का, अपनी कतारों को ऐक्यबद्ध, संगठित और आने वाले तीव्र वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करने का। आने वाला समय दोनों प्रकार की सम्भावनाओं से भरा है: हम सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष को एक सकारात्मक दिशा में आगे भी बढ़ा सकते हैं, यदि हम सचेत, सावधान और तैयार हुए, या फिर हमें किसी और भी ज़्यादा प्रतिक्रियावादी फ़ासीवादी उभार द्वारा पहले से भी ज़्यादा पीछे धकेला जा सकता है, देश भयंकर उथल-पुथल, तबाही और अव्यवस्था की ओर जा सकता है। हमें अपनी तैयारी करनी ही होगी, अपने वर्ग को एकजुट, गोलबन्द, संगठित करना ही होगा और व्यापक मेहनतकश जनता को सर्वहारा नेतृत्व प्रदान करने के लिए अपने आपको तैयार करना ही होगा। यही आज का प्रधान कार्यभार है।

मज़दूर वर्ग के महान पुरखों की विरासत को आगे बढ़ाने का दिन

(पेज 1 से आगे)

के महान संघर्ष से परिचित है। कुर्बानियों की इस महान गाथा को मज़दूर वर्ग और समस्त मेहनतकश जनता तक ले जाना होगा। अपने जन्मकाल से ही मज़दूर वर्ग ने दुनियाभर में कई शानदार लड़ाइयाँ लड़ीं हैं। इस महान अतीत को जानकर हम अपनी पुरानी गलतियों पर ग़ौर करते हैं और भविष्य के लड़ाइयों के लिए साहस और भरोसा पाते हैं। इसलिए यहाँ हम मई दिवस के इतिहास की संक्षिप्त चर्चा रहे हैं।

अमेरिका में फ़ैक्ट्री व्यवस्था शुरू होने के साथ ही वहाँ मज़दूर आन्दोलन भी शुरू हुआ। पूरी दुनिया में जहाँ कहीं भी औद्योगीकरण के साथ कारख़ाना व्यवस्था की शुरुआत हुई वहाँ काम के घण्टों को कम करने को लेकर भी जल्द ही आन्दोलन की शुरुआत हुई। इंग्लैण्ड में इस माँग को लेकर जो आन्दोलन हुआ उसी के कारण इंग्लैण्ड के पूँजीपति को श्रम कानूनों में सुधार करते हुए काम के घण्टों को 10 घण्टों तक सीमित करना पड़ा था। अमेरिका में भी आन्दोलन के शुरुआती दिनों में अधिक तनख़्वाहों की माँग सबसे अधिक प्रचलित माँग थी लेकिन बाद में आन्दोलन काम के घण्टे कम करने की माँग पर केन्द्रित हो गया। अमेरिका में "सूर्योदय से सूर्यास्त" तक का जुमला प्रचलित था -- यही उस समय काम के घण्टे थे, यानी सूरज के उगने से लेकर सूरज के डूबने तक। चौदह, सोलह यहाँ तक कि अट्ठारह घण्टे तक काम करवाना उस समय वहाँ आम बात थी। 1806 में अमेरिका की सरकार ने हड़ताली मोचियों के नेताओं पर साज़िश के मुक़दमे चलाये। इन मुक़दमों में यह बात खुलकर सामने आयी कि मज़दूरों से उन्नीस या बीस घण्टे तक काम कराया जा रहा था।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले, दूसरे और तीसरे दशक में अमेरिका में मज़दूरों के कई सारे संगठन व यूनियनें बनीं, जिनके नेतृत्व में काम के घण्टे कम करने की माँग को लेकर कई हड़तालें की गयीं। मज़दूर आन्दोलन के दबाव के चलते वॉन ब्यूरेन की सरकार को सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए काम के घण्टे दस करने की घोषणा करनी पड़ी। यह आन्दोलन केवल अमेरिका तक सीमित नहीं रहा पूँजीवादी व्यवस्था के विस्तार के साथ दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में मज़दूर वर्ग काम के घण्टे कम करने की माँग की लड़ाई को आगे बढ़ा रहे थे। ऑस्ट्रेलिया के निर्माण मज़दूरों ने 'आठ घण्टे काम आठ घण्टे आराम और आठ घण्टे मनोरंजन' की माँग को लेकर संघर्ष किया और 1856 में ही उसे हासिल भी कर लिया था।

अमेरिका में जिन मज़दूरों ने अपने बलिष्ठ हाथों से अमेरिका के शहरों को खड़ा किया, रेल पटरियों का जाल बिछाया, नदियों को बाँधा, गगनचुम्बी इमारतों को बनाया, और पूँजीपतियों के लिए दुनियाभर के ऐशो-आराम खड़े किये उनकी जीवनस्थिति अभी भी बेहद भयावह थी। उस समय युवा मज़दूर अपने जीवन के 40 बसन्त भी नहीं देख पाते थे। अगर मज़दूर इसके ख़िलाफ़ कोई भी आवाज़ उठाते थे तो उनपर निजी गुण्डों, पुलिस और सेना से हमले करवाये जाते थे! लेकिन इन सबसे अमेरिका के जाँबाज़ मज़दूर दबने वाले नहीं थे! उनके जीवन और मृत्यु में वैसे भी कोई फ़र्क नहीं था इसलिए उन्होंने लड़ने का फैसला किया! 1877 से 1886 तक मज़दूरों ने अमेरिका भर में अपने आपको आठ घण्टे के कार्यदिवस के लिए एकजुट और संगठित करना शुरू किया। 1886 में अमेरिका भर में मज़दूरों ने 'आठ घण्टा समितियाँ' बनायीं। शिकागो में मज़दूरों का आन्दोलन सबसे अधिक ताक़तवर था। वहाँ पर मज़दूरों के संगठनों ने तय किया कि 1 मई के दिन सभी मज़दूर अपने औज़ार रखकर सड़कों पर उतरेंगे और आठ घण्टे का कार्यदिवस के नारे को बुलन्द करेंगे। 1 मई के दिन शिकागो शहर में लाखों की संख्या में सभी पेशों के मज़दूर सड़कों पर एकजुट होकर उतरे। इसके दो दिनों बाद ही डरे हुए मालिकों ने अपने भाड़े के टट्टुओं से मज़दूरों की एक जनसभा पर हमला करवाया और इसमें छह मज़दूरों की हत्या कर दी गयी। अगले दिन शिकागो के हे मार्केट बाज़ार में मज़दूरों ने जब इस हत्याकाण्ड के विरोध में प्रदर्शन किया तो पुलिस ने उन पर हमला कर दिया। इसी दौरान पूँजीपतियों ने बम फिंकवा दिया जिसमें कुछ मज़दूर और पुलिस वाले मारे गये। इस बम काण्ड का आरोप चार मज़दूर नेताओं ऑगस्ट स्पाइस, एंजेल्स, फिशर और पार्सन्स पर डाल दिया गया।

इस झूठे आरोप में ही उन्हें फाँसी दे दी गयी, जबकि मुक़दमे में उनके ख़िलाफ़ सुबूत नहीं मिला था।

शहीद ऑगस्ट स्पाइस ने मौत से पहले अपने बयान में कहा: "एक ऐसा समय आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से अधिक ताक़तवर होगी जिनका आज तुम गला घोंट रहे हो।" उनकी यह ललकार अमेरिका की सीमा से निकल कर पूरी दुनिया फ़ैल गयी। 1900 से 1960 के बीच में ही अधिकांश देशों की पूँजीवादी सरकार को मज़दूर वर्ग के संघर्षों के दबाव में 8 घण्टे का कार्यदिवस या 40-48 घण्टे के कार्यसप्ताह का क़ानून बनाना पड़ा। भारत में भी मज़दूरों के संघर्षों के फलस्वरूप काम के घण्टे 8 से लेकर कई प्रकार के श्रम क़ानून बने, हालाँकि ज़्यादातर मामले में यह श्रम क़ानून कागज़ों की ही शोभा बढ़ाते रहे और कभी भी गम्भीरता से इन्हें लागू नहीं किया गया। ज़्यादा से ज़्यादा इन्हें संगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए लागू किया गया जो कुल मज़दूर आबादी का मात्र 7 प्रतिशत हैं। लेकिन 93 प्रतिशत ठेका, दिहाड़ी, कैजुअल मज़दूरों के लिए इनका आज भी कोई ख़ास मतलब नहीं है। और अब तो मोदी सरकार इस 8 घण्टे काम के कानून को कागज़ों से भी अपने नये लेबर कोड के साथ ग़ायब करने की तैयारी में है। ऐसे में, हम मज़दूरों के लिए मई दिवस के संघर्ष का एक नये दौर में नये सिरे से एक नया अर्थ पैदा हो चुका है। आज तो 8 घण्टे नहीं बल्कि 6 घण्टे के कार्यदिवस की माँग की जानी चाहिए क्योंकि पिछले 140 वर्षों में मज़दूरों के श्रम की उत्पादकता स्वयं मज़दूर वर्ग के ही द्वारा किये गये नवोन्मेषों के कारण कई गुना बढ़ चुकी है। आप खुद सोचें: 2019 में कुल सकल घरेलू उत्पाद में मज़दूरी का हिस्सा मात्र 0.52 प्रतिशत था। वहीं कुल राष्ट्रीय आय में मज़दूरी का हिस्सा 1981 के लगभग 39 प्रतिशत से घटकर 34 प्रतिशत के करीब रह गया था।

इस वर्ष का मई दिवस 137वाँ मई दिवस है। मई दिवस के शहीदों ने अपने ख़ून से जिस लाल झण्डे को लहराया था, संघर्ष की उस विरासत को आगे बढ़ाने में मज़दूर आन्दोलन आज विश्व स्तर पर ठहराव शिकार है। आज से पीछे मुड़कर देखें तो यह पता चलता है कि 1970 के बाद से अधिकांश पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने नवउदारवादी नीतियों का अनुसरण किया। हमारे देश में भी 1980 के दशक की शुरुआत से ही कांग्रेस की सरकार ने इसी नीति को आगे बढ़ाया। जनता के ख़ून पसीने से खड़े किये गये सार्वजनिक उपक्रमों और सरकारी कम्पनियों आदि को कौड़ियों के दाम पूँजीपतियों के हवाले करने की मुहिम खुले तौर पर और बड़े पैमाने पर 1991 में कांग्रेस सरकार की नयी आर्थिक नीतियों के साथ शुरू हुई। इसी दौड़ में श्रम क़ानून जो पहले भी लागू नहीं होते थे उन्हें और अधिक लचीला बनाने का काम हमारे देश में बहुत तेज़ी से शुरू हुआ। लेकिन आज जिस तरह से भाजपा की मोदी-शाह सरकार मज़दूरों के हितों और अधिकारों पर हमला कर रही है उसकी तुलना में कांग्रेस द्वारा लागू की गयी नवउदारवादी नीतियाँ बौनी नज़र आती हैं।

2007-08 से ही आर्थिक संकट के साथ विश्व स्तर पर पूँजी के हित को साधने और मज़दूरों का बर्बरतम दमन करने वाली धुर-दक्षिणपन्थी एवं फ़ासीवादी शक्तियों का उभार देखा गया। मुनाफ़े की गिरती औसत दर से पैदा हुई मन्दी से बिलबिलाया पूँजीपति वर्ग एक तानाशाह किस्म का शासन चाहता था जो मज़दूरों के अधिकारों पर नंगे और बर्बर तरीके से हमला करे, प्रतिरोध को तोड़ने के लिए उसे धर्म के नाम पर बाँट दे, मज़दूर आन्दोलन के प्रतिभार के तौर पर टुटपुँजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी उभार खड़ा करे। यह काम भारत में भाजपा और संघ परिवार अपने साम्प्रदायिक फ़ासीवाद द्वारा कर सकते थे। यही कारण है कि आज हमारे देश में फ़ासीवादी ताक़तें यानी भाजपा और संघ परिवार पूँजीपतियों की पहली पसन्द हैं और ठीक इसी वजह से सत्तासीन है। 2014 में फ़ासीवादी मोदी सरकार सत्ता में क़ाबिज़ होने के बाद पूँजीपतियों के पक्ष में एक से बढ़कर एक ऐसी नीतियाँ बनायी हैं और ऐसा अभूतपूर्व भ्रष्टाचार किया है कि देश की पिछली सारी पूँजीवादी सरकारें शर्मा जाएँ।

मोदी सरकार के आने के बाद से सार्वजनिक उपक्रमों को धन्नासेठों के हाथों ओने पौने दामों में सौंपने की मुहिम बुलेट ट्रेन की रफ्तार से आगे बढ़ायी जा रही है, दूसरे शब्दों में कहें तो निजीकरण की आंधी चल रही है। श्रम कानूनों को ख़त्म करके चार लेबर कोड पास कराया गया है। कुछ राज्यों में क़ायम अन्य पूँजीवादी पार्टियों की सरकारों के द्वारा भी इसे पारित कराया ही जाएगा उन्हें भी श्रम कानूनों में छेड़छाड़ से कोई समस्या नहीं है। इस तथ्य को दो उदाहरणों से स्पष्ट समझा जा सकता है, पहला दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने चार लेबर कोड को लागू करने को लेकर ड्राफ्ट पारित कर दिया है और दूसरा उदाहरण तमिलनाडु, जहाँ की द्रमुक पार्टी की सरकार ने 'फ़ैक्ट्री अधिनियम-1948' में छेड़छाड़ करके काम के घण्टे को आठ से बढ़ाकर बारह करने के फ़ैसला लिया है। इसलिए अन्य पूँजीवादी दल भी जहाँ तक पूँजीपतियों की सेवा के लिए मज़दूरों के हक़ो-हुकूक पर हमले का सवाल है, भाजपा से प्रतिसपर्द्धा करते नजर आ रहे हैं।

भारत में विभिन्न क्षेत्रों में लगे मज़दूरों की संख्या 48 करोड़ से भी अधिक है। कुल मज़दूर आबादी का 94 फ़ीसदी असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं जहाँ मज़दूरों के लिए काम के घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, ओवरटाइम, सामाजिक सुरक्षा आदि के क़ानून मज़ाक के अलावा कुछ भी नहीं है। काम की बेहद ख़तरनाक स्थितियों में तथा सुरक्षा उपकरणों के अभाव में दुर्घटना के आँकड़े बढ़ते गये हैं, जिसमें मौत और अपंगता के मामलों में तेज़ बढ़ोत्तरी हुई है। मज़दूरी कम होने, मज़दूरी में मामूली बढ़ोत्तरी की तुलना में महँगाई में ज़्यादा तेज़ बढ़ोत्तरी होने, रोज़ाना काम ना मिलने और भयंकर बेरोज़गारी के कारण मज़दूर परिवारों की स्थिति काफ़ी भयावह है। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो 2021 के आँकड़ों से पता चलता है कि 2019 से 2021 के बीच 1 लाख 12 हज़ार दिहाड़ी मज़दूरों ने आत्महत्या की है। इसी अवधि में खेती से जुड़े 31,839 लोगों ने आत्महत्या की जिसमें आधी संख्या खेतिहर मज़दूरों व आधी ग़रीब किसानों की है।

भारत में आज ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 23 करोड़ पहुँच चुकी है जो दुनिया में सबसे अधिक है। असल मायने में यह ग़रीबी रेखा भुखमरी रेखा ही है। वास्तविक ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की तादाद तो भारत में इससे कहीं ज़्यादा होगी। अक्टूबर 2022 के वैश्विक भूख सूचकांक में 121 देशों की सूची में भारत 107वें स्थान पर है! वर्ष 2019 के अन्तिम आँकड़ों के अनुसार यहाँ 1 साल में 8,24,000 शिशु मौत के शिकार हुए। यानी हर दो मिनट में तीन बच्चों की मौत! भुखमरी और बाल मृत्यु दर में भारत अफ्रीका के ग़रीब देशों से भी पीछे है। 1981 में भारत के सबसे ऊपर के 10 प्रतिशत अमीरों की सम्पत्ति देश की कुल सम्पत्ति की 45 फ़ीसदी थी जो 2012 में बढ़कर 63 फ़ीसदी और 2022 में बढ़कर 80 फ़ीसदी से भी अधिक हो गयी। इस समय देश की कुल सम्पत्ति के 90 प्रतिशत पर ऊपर के सिर्फ़ 30 फ़ीसदी लोग कुण्डली मारे बैठे हैं। सबसे ऊपर के 1 प्रतिशत धन्नासेठों के पास देश की 40 फ़ीसदी से भी अधिक सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी है जबकि नीचे से 50 प्रतिशत लोगों के पास कुल सम्पत्ति का मात्र 3 फीसदी है। एक तरफ धन-दौलत का बढ़ता ढेर और दूसरी तरफ भूख से दम तोड़ते बच्चे!

यह चन्द आँकड़े और तथ्य मज़दूर मेहनतकश जनता के तबाही बर्बादी की तस्वीर पेश करते है। आज हमें पस्ती और निराशा त्यागकर नये सिरे से एकजुट, जागृत, गोलबन्द और संगठित होना होगा। मई दिवस की विरासत से सीख लेते हुए अपने अधिकारों के लिए नये सिरे से एक आन्दोलन को खड़ा करना होगा, जिसकी संगठित शक्ति के सामने मौजूदा फ़ासीवादी निज़ाम के लाठी-डण्डे की ताक़त बौनी हो जाये। हममें यह ताक़त है। लेकिन एकजुट होने के लिए हमें यह समझ लेना होगा कि मज़दूर वर्ग को धर्म और जाति के नाम पर बिल्कुल नहीं बँटना है, कि देश में आज दो ही जमातों की बात की जा सकती है, एक, जो अपनी मेहनत की रोटी खाते हैं और लूट व शोषण का शिकार हैं, और दूसरे वे, जो मेहनतकश जनता के शरीर पर जोंक के समान चिपके हुए हैं और उनका खून पी रहे हैं। हमारे बीच फिरकापरस्त ताक़तों और हाफपैण्टिये साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों द्वारा पैदा किये गये इन बँटवारों को तोड़ देना होगा और अपनी जुझारू वर्ग एकजुटता के आधार पर एक जुझारू मज़दूर आन्दोलन खड़ा करना होगा। क्या आज की चुनौतियों का सामना करने के लिए आप तैयार हैं? तो, पस्ती और निराशा को त्याग कर नयी शुरुआत करने का दिन है मई दिवस! मज़दूर वर्ग के महान पुरखों के गौरवशाली संघर्ष की विरासत को आगे बढ़ाने का दिन है मई दिवस!

2024 के आम चुनावों के पहले अन्धराष्ट्रवाद व साम्प्रदायिक उन्माद की लहर उठाने की कोशिशों से सावधान रहें!

(पेज 1 से आगे)

गोधरा की घटना और फिर गुजरात-2002 साम्प्रदायिक नरसंहार भी 2002 के गुजरात विधानसभा चुनावों के ठीक पहले ही हुआ था। ऐसा लगता है मानो जब-जब भाजपा हार रही होती है और उसके नेता दिलो-जान से चाहते हैं कि कोई ऐसी आकस्मिक घटना घट जाये, उसी समय ऐसी आकस्मिक घटना घट ही जाती है! लेकिन पुलवामा हमले के समय जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल रहे भाजपा नेता सत्यपाल मलिक के साक्षात्कार और डीएसपी देविन्दर सिंह को बाद में मिली जमानत से इस आकस्मिकता पर भी सवाल खड़े हो जाते हैं। ये घटनाएँ कितनी इत्तेफ़ाकन थीं, इस पर भी सवाल खड़े हो जाते हैं। और बार-बार भाजपा और उसकी सरकारों के संकट में आने पर अचानक "देश संकट में" कैसे आ जाता है, इस पर भी सवाल खड़े हो जाते हैं।

पुलवामा हमले के समय जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल रहे सत्यपाल मलिक ने 'दि वायर' के करन थापर को दिये साक्षात्कार में साफ़ शब्दों में बताया है कि जहाँ तक पुलवामा हमले का प्रश्न है तो दाल में कुछ काला नहीं है बल्कि पूरी दाल ही काली है। मलिक ने इस साक्षात्कार में बताया कि पुलवामा हमला भी सीधे-सीधे ख़ुफ़िया नाकामी थी। वास्तव में, सरकारी नियमों व मानकों के ही अनुसार, आतंकवाद-प्रभावित क्षेत्रों में 2500 सैनिकों को कभी भी सड़क के रास्ते एक स्थान से दूसरे-स्थान नहीं ले जाया जाता है। इन सैनिकों ने इस यात्रा के लिए 5 विमानों की माँग भी की थी। लेकिन आश्चर्यजनक रूप से मोदी सरकार के गृह मन्त्रालय ने साफ़ मना कर दिया था और इतने बड़े क़ाफ़िले को सड़क से जाने को मज़बूर किया था जबकि आतंकी हमले की सम्भावना की सूचनाएँ लगातार मिल रही थीं और कुछ ही दिनों पहले डीएसपी देविन्दर सिंह दो आतंकियों को अपनी कार में घुमाता पकड़ा गया था! पूरे रास्ते में 8 से 10 ऐसी पतली सड़के राजमार्ग से जुड़ती थीं, जिन पर कम-से-कम 10-12 दिनों से 300 किलोग्राम से ज़्यादा आरडीएक्स विस्फोटक लेकर एक कार लगातार घूम रही थी। इन छोटी सड़कों पर निगरानी करने, उनकी रेकी करने और उन्हें 'सैनीटाइज़' करने, यानी ख़तरों या जोखिम के लिए उनकी जाँच करके उन्हें सुरक्षित करने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया गया था। और ऐसे रास्ते पर 2500 सैनिकों के क़ाफ़िले को भेज दिया गया! **यानी, इस हमले के लिए एक खुला न्यौता दे रखा गया था।**

सत्यपाल मलिक ने इसी साक्षात्कार में बताया कि जब हमला हुआ तो नरेन्द्र मोदी जिम कॉर्बेट नेशनल पार्क में अपना फोटो सेशन करवा रहे थे। मलिक ने नरेन्द्र मोदी को फोन किया। बाद में नरेन्द्र मोदी ने एक ढाबे से उनको वापस फोन किया। मलिक ने बताया कि हमले के लिए पूरी तरह सरकार की चूक और लापरवाही ज़िम्मेदार है और इन 40 सैनिकों की मौत की ज़िम्मेदारी इस नाते सरकार की बनती है। **इस पर नरेन्द्र मोदी ने मलिक को अपनी ज़ुबान बन्द रखने का आदेश दिया। फिर यही फ़रमान उनको राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोवल ने दिया कि अपना मुँह बन्द रखो। क्यों?** क्या यह पूरी सच्चाई जनता के सामने नहीं आनी चाहिए थी कि यह हमला और 40 सैनिकों की मौत के पीछे सरकार द्वारा कोई सुरक्षा इन्तज़ाम न कराना, हवाई जहाज़ मुहैया न कराना और मानकों को ताक पर रखकर इतने बड़े काफिले को सड़क से भेजना था? मगर ऐसा होता तो पुलवामा हमले और उसमें मारे गये 40 सैनिकों, जिनमें से अधिकांश आम ग़रीब किसानों व मज़दूरों के ही बेटे थे, को चुनावी मसला बनाकर अन्धराष्ट्रवाद नहीं फैलाया जा सकता था और न ही बालाकोट हमले का मंचन किया जा सकता था। स्वयं बालाकोट हमले में क्या हुआ, इस पर बहुत से पत्रकारों व प्रेक्षकों ने सवाल उठाये हैं। जिस बात का पक्के तौर पर सबूत है वह सिर्फ़ इतना है कि भारत का एक लड़ाकू विमान अपने पायलट को ही पाकिस्तान में गिरा आया था, जिसे बाद में पाकिस्तान ने भारत के हवाले कर दिया। इन सारे वाकयों की पूरी सच्चाई तो कभी भविष्य में ही सामने आ पायेगी। लेकिन सत्यपाल मलिक के खुलासों से इतना स्पष्ट है कि पुलवामा हमला होने की स्थितियों की रेसिपी मोदी सरकार ने ही तैयार कर दी थी।

यहीं पर जम्मू-कश्मीर के डीएसपी देविन्दर सिंह का रहस्यमय मामला भी सामने आता है। यह आदमी शुरू से ही आतंकियों से अपने सम्बन्धों, कश्मीरी नौजवानों को यातना देने और हत्याएँ करने, घूस लेने और भ्रष्टाचार करने के मामले में कई बार दण्डित हो चुका पुलिस अधिकारी है। लेकिन आपको ताज्जुब होगा कि हमेशा दण्ड के तौर पर इसे अधिक से अधिक संवेदनशील सुरक्षा विभागों में तैनाती मिलती रही। पुलवामा हमले के कुछ ही दिनों पहले यह शख़्स 11 जनवरी 2019 को अपनी निजी कार में जम्मू में दो आतंकवादियों नवीद मुश्ताक़ और रफ़ी को ले जा रहा था और रंगे हाथों पकड़ा गया था। इसके पहले, अफ़ज़ल गुरू ने भी मौत से पहले भेजे गये अपने पत्र में देविन्दर सिंह पर आरोप लगाया था कि उसने गुरू को यातना देकर दिल्ली में आतंकियों की मदद करने के लिए बाध्य किया था। 11 जनवरी 2019 को पकड़े जाने के बाद पहले देविन्दर सिंह ने पहले तो गोलमाल किया और फिर पूछताछ करने वाले अधिकारी को बोला कि *"मेरा दिमाग़ फिर गया था कि मैं ऐसा काम कर रहा था।"* बहरहाल, देविन्दर सिंह गिरफ्तार हो जाता है। कुछ दिनों बाद ही पुलवामा हमला होता है। उसके बाद जून 2020 में देविन्दर सिंह को ज़मानत भी मिल जाती है, जिसे गोदी मीडिया में कहीं सुर्खियाँ नहीं बनाया जाता! **क्या आतंकियों की मदद करने वाले किसी व्यक्ति को जिस पर यूएपीए के तहत मुक़दमा दर्ज़ हुआ हो और जो आतंकियों को अपनी कार में घुमाता रंगे हाथों पकड़ा गया हो, उसे इतनी जल्दी ज़मानत मिलती है? यहाँ तो बेगुनाह ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट व राजनीतिक कार्यकर्ताओं को यह क़ानून लगाकर जेल में ही मार दिया जाता है या वहीं सालों-साल सड़ा दिया जाता है, जबकि कोई प्रमाण तक नहीं होता, लेकिन देविन्दर सिंह को ज़मानत मिल जाती है। ये सारी बातें बहुत से सवाल खड़े करती हैं।**

जो भी हो, इतना तय है कि पुलवामा हमले पर सत्यपाल मलिक के खुलासों ने भाजपा, संघ परिवार और मोदी-शाह सत्ता के मंसूबों पर गम्भीर सवालिया निशान खड़े कर दिये हैं। यही वजह है कि पूँजीवादी विपक्ष के तमाम नेताओं को ईडी व सीबीआई के ज़रिये डराने-धमकाने के सिलसिले में अब सत्यपाल मलिक को भी डराने का प्रयास किया जा रहा है। निश्चित ही, यह शासक वर्ग के भीतर का अन्तरविरोध है और बुर्जुआजी के तमाम धड़ों के बीच के ये अन्तरविरोध तभी उभरकर सामने आते हैं जबकि शासक ब्लॉक (यानी, आज मोदी-शाह निज़ाम) के भीतर और शासक वर्ग के शासक ब्लॉक व उसके अन्य ब्लॉकों के बीच के अन्तरविरोध गहराते हैं और एक राजनीतिक संकट की स्थिति पैदा होती है। आज देश में बढ़ती महँगाई और बेरोज़गारी और साथ ही भाजपा के अभूतपूर्व और रिकार्डतोड़ भ्रष्टाचार के सामने आने के साथ ये अन्तरविरोध गहरा गये हैं। मोदी सरकार की नीचे गिरती लोकप्रियता के सन्दर्भ में तमाम मसले और विभिन्न खुलासे शासक वर्ग के अलग-अलग खित्तों के बीच से ही निकलकर सामने आ रहे हैं, तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है।

ग़ौरतलब है कि समूचा गोदी मीडिया एकदम बेशर्मी से पुलवामा पर हुए खुलासों को ब्लैकआउट कर रहा है और मलिक पर ही सवाल उठाने की कोशिश कर रहा है कि उन्होंने पुलवामा हमले के तुरन्त बाद ही ये खुलासे क्यों नहीं किये। इसका जवाब सत्यपाल मलिक खुद ही दे चुके हैं कि पुलवामा हमले के तुरन्त बाद उन्होंने खुफिया चूक की ओर सार्वजनिक तौर पर इंगित किया था, जिसके बाद मोदी और अजित डोवल ने उन्हें जुबान बन्द रखने की हिदायत दी थी। लेकिन सन्तोष की बात यह है कि गोदी मीडिया की सच्चाई हर बीतते दिन के साथ जनता के बड़े से बड़े हिस्से के सामने आती जा रही है और अब आलम यह है कि लोग टेलीविज़न के गोदी चैनलों को देखने की बजाय सोशल मीडिया पर चलने वाले स्वतन्त्र न्यूज़ चैनलों और पत्रकारों को ज़्यादा देख और सुन रहे हैं। तमाम आन्दोलनों व प्रदर्शनों से गोदी मीडिया के दलालों को जनता ही मारकर भगा रही है। **यही तो कारण है कि मोदी सरकार अब सोशल मीडिया पर लगाम लगाने की कोशिश कर रही है ताकि उसकी स्वीकार्यता का तेज़ी से गिरता ग्राफ़ सम्भाला जा सके।** लेकिन वह इस मुग़ालते में है कि वह ऐसा करने में सफल हो पायेगी। सोशल मीडिया पर पूर्ण नियन्त्रण लगाने की कोशिश कई देशों की दमनकारी और तानाशाह सरकारें कर चुकी हैं, लेकिन यह माध्यम ही ऐसा है जिस पर पूर्ण नियन्त्रण करना अभी तक शासक वर्ग के लिए सम्भव सिद्ध नहीं हुआ है। कल को ऐसा हो भी गया तो जनता बहुत रचनात्मक होती है और वह दूसरे माध्यम ढूँढ लेगी। वैसे भी, जैसे-जैसे लोगों के जनवादी अधिकारों का दायरा भयाक्रान्त फ़ासीवादी मोदी सरकार कम करती जायेगी, वैसे-वैसे जनता का प्रतिरोध बढ़ेगा न कि घटेगा।

कर्नाटक में आने वाले विधानसभा चुनावों में भाजपा के हारने की ही ज़्यादा सम्भावना है। अगर ऐसा होता है तो बाकी राज्यों में आसन्न चुनावों में भी वोटरों के रवैये पर उसका असर पड़ेगा। और इन राज्यों में भी यदि भाजपा का ग्राफ़ नीचे जाता है तो 2024 के आम चुनावों में भी उसके ग्राफ़ के नीचे जाने की सम्भावना अधिक होगी। ऐसे में, मोदी-नीत भाजपा की हार की सम्भावनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं, जिनकी अभी तीन-चार महीने पहले तक भी कल्पना नहीं की जा सकती थी। अधिकतर राजनीतिक चुनाव विश्लेषकों के लिए 2024 का चुनाव एक पहले से तय मुद्दा था, लेकिन अब मोदी के प्रति सकारात्मक रुख रखने वाले विश्लेषक भी इतनी द्वन्द्वमुक्त भाषा में बात नहीं कर पा रहे हैं। **सच्चाई यह है कि मोदी का सितारा तेज़ी से गर्दिश में जा रहा है।**

ऐसे में, फ़ासीवादियों की पुरानी ट्रिक रही है साजिशाना तरीके से दंगे भड़काना (जिसके प्रयास रामनवमी और हनुमान जयन्ती के उत्सवों को मुसलमान-विरोधी दंगों में तब्दील करने की कोशिशों के साथ संघ परिवार शुरू कर चुका है), अन्धराष्ट्रवाद की लहर फैलाना, कोई छोटा-मोटा युद्ध भड़का देना। इसी दौरान ऐसे संयोग घटित होते हैं कि आतंकी हमले हो जाया करते हैं, गोधरा काण्ड जैसी कोई घटना हो जाती है, कारगिल युद्ध भड़क जाता है, पुलवामा हमला हो जाता है या संसद पर हमला हो जाता है। *ग़ौरतलब है कि नात्सी जर्मनी में हिटलर ने वहाँ की संसद राइखस्टाग में आग लगवाई थी और उसका इल्ज़ाम समाजवादियों, सामाजिक जनवादियों व कम्युनिस्टों पर लगाकर अपने तानाशाहाना आपवादिक कानूनों को थोप दिया था और यह सबकुछ "राष्ट्र" और "देश" की सुरक्षा के नाम पर जनता में एक भय पैदा करके किया गया था, ताकि लोगों को यह बताया जा सके कि हिटलर जी जैसा मज़बूत नेता ही अब जर्मनी को बचा सकता है!* बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी को बाद में देख लेंगे। पहले से सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा के कारण भय और प्रतिक्रिया में जी रही टुटपुँजिया आबादी में ख़ास तौर पर यह भावना पैदा की जा सकती है, लेकिन मज़दूर वर्ग के कई हिस्से, विशेषकर संगठित क्षेत्र के बेहतर वेतन वाले मज़दूर और लम्पट मज़दूर आबादी भी इससे अप्रभावित नहीं रहते हैं।

ऐसे में, आप 2024 के पहले मोदी सरकार की ख़राब होती हालत के मद्देनज़र किन बातों की अपेक्षा कर सकते हैं? पता नहीं हमें ऐसा क्यों लग रहा है कि 2024 के आम चुनावों के पहले भी कोई आतंकी हमला हो सकता है, कोई कारगिल युद्ध जैसा छोटे पैमाने का युद्ध हो सकता है, कहीं दंगा भड़क सकता है (अमित शाह ने तो कर्नाटक की जनता को धमकी दे ही दी कि अगर भाजपा को हराया तो कर्नाटक में दंगे होंगे!), किसी शीर्ष के भाजपा नेता पर कोई "जानलेवा" हमला हो सकता है (और हमें यह भी लगता है कि इस "जानलेवा" हमले में उक्त नेता इस प्रकार "बाल-बाल बचेगा" कि उसका बाल भी बाँका नहीं होगा!), या इसी प्रकार की कोई अन्य घटना घट सकती है। इसका कोई कारण नहीं है कि हमें ऐसा क्यों लग रहा है, बस अभी तक का इतिहास देखकर हमें ऐसा महसूस हो रहा है, जिसे आप छठवीं इन्द्री की अस्पष्ट-सी अनुभूति कह सकते हैं! हम दिल से प्रार्थना करते हैं कि ऐसी कोई अप्रिय घटना न हो, लेकिन कभी-कभी ऐसी आशंकाएँ दिल में उभर ही आती हैं!

ऐसे में, हम व्यापक मेहनतकश जनता को आगाह करना चाहते हैं कि अगर ऐसा कोई *संयोग* घटित हो ही जाता है, तो कतई साम्प्रदायिकता या अन्धराष्ट्रवाद की लहर में न बहें। आज तक के अपने तजुरबों पर निगाह डालिये। जब भी हम ऐसी किसी प्रतिक्रियावादी लहर में बहे हैं, तो सबसे ज़्यादा हमारा ही नुकसान हुआ है। अपने असली मुद्दों से एकदम फेवीक्विक का जोड़ लगाकर चिपके रहें: यानी बढ़ती बेरोज़गारी, घटती मज़दूरी, बढ़ते काम के घण्टे, ठेकाकरण, दिहाड़ीकरण, बढ़ती महँगाई, पहुँचे

(पेज 7 पर जारी)

इज़रायल में नेतन्याहू की धुर दक्षिणपन्थी सत्ता के ख़िलाफ़ जनता का प्रदर्शन!

भारत

इज़रायल की सरकार ने देश की न्याय व्यवस्था में बड़े बदलावों की योजना का प्रस्ताव दिया है जिसके बाद से बीते दस हफ़्तों से देश में विरोध प्रदर्शन हो रहे हैं। हाइफ़ा जैसे शहरों में रिकॉर्ड स्तर पर प्रदर्शनकारी सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे हैं, जबकि राजधानी तेल अवीव में क़रीब दो लाख लोग इन प्रदर्शनों में शामिल हुए हैं। इसे इज़रायल के इतिहास में हुआ अब तक का सबसे बड़ा विरोध प्रदर्शन कहा जा रहा है।

यह बदलाव इज़रायल के मूल क़ानूनों "जो देश के संविधान के रूप में कार्य करता है" से सम्बन्धित है। दरअसल इज़रायल में कोई लिखित संविधान नहीं है और इज़रायल में सारे क़ानून 14 "बेसिक लॉज" को ध्यान में रख कर बनते हैं। अगर इन मूल क़ानूनों में बदलाव लाने में बिन्यामिन नेतन्याहू की सरकार सफ़ल हो जाती है तो आगे किसी भी तरह का बदलाव लाने में उसे किसी भी तरह की मुश्किलों का सामना नहीं करना पड़ेगा। न्यायिक बदलावों से जुड़े बिल की पहली रीडिंग को इज़रायली संसद नेसेट ने पारित कर दिया है। 21 फरवरी की आधी रात के बाद हुई वोटिंग में सुधारों के पक्ष में 63 वोट पड़े और विरोध में 47। सरकार के मुताबिक़ वह इन सुधारों के ज़रिये पक्का करना चाहती है कि सुप्रीम कोर्ट अपनी ताक़त का ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल न करे। इससे नेतन्याहू की सरकार सुप्रीम कोर्ट के किसी भी क़ानून की वैधता की समीक्षा करने की शक्ति को ख़त्म करने जैसा क़ानून लाने की ओर अग्रसर है। वहाँ के सुप्रीम कोर्ट के पास संसद द्वारा लाए गए किसी भी क़ानून की समीक्षा करने और उसकी वैधता को जाँचने की शक्ति है।

एक और बदलाव न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति में सत्तारूढ़ दलों का एकाधिकार स्थापित करने से सम्बन्धित है। वर्तमान समय में इज़रायल के सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीश की नियुक्ति नौ सदस्यीय कमेटी करती है, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, वकील, सांसद व मन्त्री शामिल होते हैं। बिन्यामिन नेतन्याहू की सरकार ने इस समिति में जिस बदलाव की माँग की है, उससे इस समिति का ढाँचा पूरी तरह बदल जायेगा। पहले इस कमेटी में न्यायाधीशों व क़ानूनविदों का आधिपत्य चलता था, अब पूरी तरह से इसपर सत्तारूढ़ पार्टी का नियन्त्रण हो जायेगा। इसके अलावा सबसे महत्वपूर्ण विधेयक जो इज़रायली सरकार सदन में लेकर आयी है, उसे सीधे शब्दों मे देखा जाये तो वह सुप्रीम कोर्ट के किसी भी फैसले को पलटने का अधिकार संसद को देने जैसा है। आसान शब्दों में कहा जाये तो 'न्यायालय के निर्णय सर्वोपरि होते हैं और उसके न्याय पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता' जैसी शक्ति उसके पास थी, पर अब सरकार जो प्रस्ताव लेकर आयी है उसमें यह कहा गया है कि अब संसद चाहे तो साधारण बहुमत वोट के साथ न्यायालय के किसी भी फ़ैसले को पलट सकती है। हालिया समय में प्रस्तावित जो विधेयक है उसमें यह कहा गया है कि सुप्रीम कोर्ट, संसद द्वारा लाए गए किसी भी क़ानून को केवल तभी रद्द कर सकती है जब सुप्रीम कोर्ट के सभी 15 न्यायाधीश लाये गये क़ानून को ख़त्म करने पर अपनी सहमति जताते हों (या, एक अलग रिपोर्ट के अनुसार, कम से कम 12 की सहमति की आवश्यकता होगी)। बिन्यामिन नेतन्याहू सरकार का "ओवरराइड क्लॉज़" हालिया प्रस्ताव का सबसे विवादास्पद तत्व है, यह सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों और स्वतन्त्रता पर असंवैधानिक उल्लंघन के रूप में हमला करता है। वैसे तो पूँजीवादी न्यायालय भी कभी पूँजीपति वर्ग के हितों खिलाफ़ नहीं जाता लेकिन वह व्यवस्था की दूरगामी पहरेदारी करने के नाते जनता का व्यवस्था में विश्वास बनाये रखने का काम करता है और इसलिए तात्कालिक तौर पर कई ऐसे निर्णय लेता है जिससे पूँजीपति वर्ग को असुविधा होती है। संकट के दौर में यह भी पूँजीपति वर्ग की आँखों में चुभता है।

बीते साल दिसम्बर में सत्ता में आने से पहले ही नेतन्याहू अपनी चुनावी रैलियों में भी न्यायालय में इस तरह के सुधार लाने की बात कर रहे थे और सत्ता में आने के बाद अब वह ऐसा करने की ओर अग्रसर हैं। दरअसल हालिया समय में जो लोग इज़रायल में सत्ता में बैठे हुए हैं, वह इज़रायली इतिहास में सबसे ज़्यादा धुर दक्षिणपन्थी दलों से सम्बन्ध रखते हैं। हालिया समय में जो पार्टी सत्ता में बैठी हुई है उनमें से सबसे प्रमुख नेतन्याहू की पार्टी लिकुड (Likud) है, इसके अलावा रीलिजस जाइओनिज़्म (Religious Zionism), शास(Shas) और तोरा जुडाइस्म (Torah Judaism) जैसी पार्टियाँ हैं। यह तमाम पार्टियाँ धुर दक्षिणपन्थी विचारधारा से सम्बन्ध रखती हैं और बीते कुछ सालों से इज़रायल की न्यायपालिका पर अपना नियन्त्रण करने की कोशिश में लगे हुए थे। हालिया समय में सत्ता पर काबिज़ धुर दक्षिणपन्थी दलों से सम्बन्ध रखने वाले नेताओं व लोगों का मानना है कि यहाँ के न्यायालय का झुकाव "वाम" विचारधारा की तरफ़ है और वह "बहुसंख्यक समाज" की बातों के ख़िलाफ़ काम करता है। हालाँकि, इज़रायली वाम भी कभी ज़ायनवादी साम्राज्यवाद के खिलाफ नहीं जाता है और फिलिस्तीनियों के ऊपर हमले और हत्याओं को जायज़ ठहराता है। दक्षिणपन्थियों का दावा है कि सर्वोच्च न्यायालय "बहुसंख्यक समाज" का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता है और यहूदियों के मामलों को सही तरह से आवाज़ नहीं देता है, जिस कारण "बहुसंख्यक समाज" की तरक़्क़ी नहीं हो पा रही है। नेतन्याहू व उनकी सरकार में बैठे मन्त्री व नेताओं का मानना है कि हालिया समय की अदालत और उसके न्यायाधीश उनकी सरकार को फिलिस्तीनियों के ऊपर मनचाहे फैसले और क़ानून बनाने में हस्तक्षेप कर रहे हैं। न्यायपालिका से सम्बन्धित यह बदलाव यहूदियों और इज़रायल के लिए बेहतर होगा।

बताया जा रहा है कि यह क़ानून एक तरफ़ न्यायपालिका पर लगाम लगाने के लिए तो लाया ही गया है, वहीं इससे नेतन्याहू ख़ुद को भी बचा रहे हैं। सारे दक्षिणपन्थियों के समान, मोदी के जिगरी दोस्त नेतन्याहू पर भी भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगे हैं। आरोपों के साबित होने के बाद उन्हें अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ सकता है। यह भी एक कारण है जिसके लिए यह क़ानून पास किया गया। नेतन्याहू ने 1996 से 1999 तक और 2009 से 2021 तक और फिर 2022 से रुकावटों के साथ, कुल पाँच कार्यकालों के लिए इज़रायल के प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य किया। इज़रायल पुलिस ने दिसम्बर 2016 में नेतन्याहू की जाँच शुरू की और बाद में उनके ख़िलाफ़ अभियोग की सिफ़ारिश की। 21 नवम्बर, 2019 को, नेतन्याहू को आधिकारिक रूप से विश्वासघात, रिश्वत स्वीकार करने और धोखाधड़ी के लिए आरोपित किया गया था, जिसके कारण उन्हें प्रधानमन्त्री के अलावा अपने मन्त्रालय के विभागों को क़ानूनी रूप से त्यागना पड़ा। आइये जानते हैं कि नेतन्याहू पर भ्रष्टाचार के क्या आरोप लगे हैं! नेतन्याहू के ख़िलाफ़ चल रहे इन मामलों को केस 1,000, 2,000 और 3,000 के नाम से जाना जाता है। केस 1,000 में नेतन्याहू पर धोखाधड़ी करने और भरोसा तोड़ने के आरोप हैं। उन पर आरोप हैं कि उन्होंने अपने एक अमीर दोस्त से किसी काम के बदले कई महँगे तोहफ़े लिये। उनपर दूसरा आरोप है कि 2008 से 2014 के बीच नेतन्याहू ने एक प्रमुख टेलीकम्युनिकेशन कम्पनी के पक्ष में नियामक फ़ैसले को बढ़ावा दिया ताकि कम्पनी अपनी वेबसाइटों पर नेतन्याहू के समर्थन वाली और सकारात्मक ख़बरों को जगह दे। जून 2016 में एक फ्रांसीसी दलाल ने दावा किया कि उसने 2009 के चुनावी कैम्पेन में नेतन्याहू को लाखों यूरो दिये थे ताकि नेतन्याहू चुनाव जीत सकें। इज़रायल के अटॉर्नी जनरल ने इसकी जाँच के आदेश दिये थे। नवम्बर 2016 में जर्मनी से ख़रीदे गये नये युद्धपोतों में गड़बड़ी को लेकर जाँच शुरू हुई। नेतन्याहू के पहले कार्यकाल में भी उन पर रिश्वत लेने के आरोप लगे थे। आपको ये सारे भ्रष्टाचार के मसले सुनकर सहसा मोदी जी की याद आ जाये तो इसमें आपकी कोई ग़लती नहीं होगी!

अब ज़रा एक मिनट के लिए अपने देश के हालात पर निगाह डालिये, क्या हालात मिलते-जुलते नहीं लगते? क्या भारत में मोदी भी यही काम नहीं कर रहा! हिन्दुत्ववादियों और ज़ायनवादियों का ख़ूनी गठजोड़ बहुत पहले ही परवान चढ़ने लगा था। हिन्दुत्ववादी भाजपा की सरकार का इन ज़ायनवादी अपराधियों से कुछ विशेष ही भाईचारा देखने में आता है। अटलबिहारी वाजपेयी के कार्यकाल के दौरान भी भारत और इज़रायल के सम्बन्धों में ज़बरदस्त उछाल आया था और नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद से तो यह दोस्ती और गहरी होती चली गयी। नरेन्द्र मोदी और नेतन्याहू दोनों के जनविरोधी, मज़दूरविरोधी और दक्षिणपन्थी रिकॉर्ड को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो ये दोनों एक-दूसरे के नैसर्गिक जोड़ीदार हैं। भारत पहले ही इज़रायल के रक्षा उपकरणों का सबसे बड़ा आयातक देश है और इज़रायल भारत का दूसरा सबसे बड़ा हथियारों का सप्लायर है।

जैसे मोदीजी यहाँ चुनाव के वक्त अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद फैलाते हैं, यही काम इज़रायल में नेतन्याहू करता है। नेतन्याहू ने चुनाव अभियान के वक़्त ये वादा किया था कि अगर वो चुनाव जीतते हैं तो क़ब्ज़े वाले वेस्ट बैंक में बसायी गयी यहूदी बस्तियों को इज़रायल में शामिल कर देंगे। अन्तरराष्ट्रीय क़ानून के मुताबिक़ वेस्ट बैंक में इज़रायल की ओर से की गयी बसावट अवैध है मगर इज़रायल ऐसा नहीं मानता। इज़रायल ने वेस्ट बैंक और ईस्ट यरूशलम में 100 से अधिक यहूदी बस्तियाँ बसायी हैं। वहीं दूसरी तरफ़ इन धुर दक्षिणपन्थियों का गुट इज़रायल को यहूदी-अरब के नाम पर आसानी से बाँट सके इसलिये भी न्यायालय को अपने अधीन करना चाहता है। नेतन्याहू के साथ गठबन्धन में शामिल यहूदी शक्ति पार्टी के नेता, ईटामार बेन-ग्विर अरबों के प्रति अपनी उग्र शत्रुता के लिए कुख़्यात है, जो अब इज़रायल की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा हैं। अगर नेतन्याहू सार्वजनिक सुरक्षा मन्त्रालय के लिए बेन-गवीर की माँग को मान लेते हैं, तो इज़रायल में अरबों का और भी अधिक दमन होना तय है। दक्षिणपन्थी दल भी सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों पर अंकुश लगाना चाहते हैं, यह नेतन्याहू के लिए ही सुविधाजनक है।

वहीं अमेरिका ने भी नेतन्याहू सरकार को इस क़ानून को रद्द करने के लिए कहा। इसपर नेतन्याहू ने अमेरिका को आन्तरिक मामले में दख़ल न देने की सलाह दी। कुछ देर के लिये अमेरिका न्यायप्रिय दिख सकता है, पर हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि फिलिस्तीन के ऊपर हमला करने में अमेरिका ने हर बार इज़रायल को पूर्ण समर्थन दिया था। यूएस कांग्रेशनल रिसर्च सेण्टर की एक रिपोर्ट के अनुसार, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से इज़रायल को संयुक्त राज्य अमेरिका से सबसे बड़ी विदेशी सहायता प्राप्त हुई है, जिसकी राशि 158 बिलियन डॉलर है। रिपोर्ट बताती है कि सहायता मध्य पूर्व में साझा रणनीतिक लक्ष्यों और "लोकतान्त्रिक मूल्यों" के प्रति पारस्परिक रूप से घोषित प्रतिबद्धता पर आधारित है। 1948 के बाद से, फ़िलिस्तीनी शरणार्थी समस्या को हल करने के लिए इज़रायल के इनक़ार का समर्थन अमेरिका ने भी किया था, और 1967 से वेस्ट बैंक और गाज़ापट्टी में भी इज़रायल के ज़ायनवादी शासन को क़ायम रखने में अमेरिका ने हमेशा साथ ही दिया है।

अगर नेतन्याहू के दौर की बात करे तो इज़रायल में राजनीतिक अस्थिरता बीते वर्षों में बढ़ चुकी है। 2018-2022 इज़रायल का राजनीतिक संकट इज़रायल में राजनीतिक अस्थिरता की अवधि थी, जिसमें पाँच नेसेट चुनाव चार साल से कम समय में हुए थे: अप्रैल 2019, सितम्बर 2019, मार्च 2020, मार्च 2021 और नवम्बर 2022। कोविड के समय में नेतन्याहू द्वारा बरती गयी जानलेवा लापरवाही के ख़िलाफ़ भी प्रदर्शन किया गया था। नेतन्याहू सरकार ने मई में कोविड-19 के ख़िलाफ़ शुरुआती जीत की घोषणा की थी (मोदीजी की तरह) और अर्थव्यवस्था को खोल दिया था। इसके बाद जुलाई से इज़रायल ने दैनिक कोविड-19 के मामलों और इसके कारण होने वाली मौतों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई थी। प्रदर्शनकारियों का कहना था कि नेतन्याहू को अपने भ्रष्टाचार के आरोपों का सामना करने के लिए इस्तीफ़ा देना चाहिये और उन्हें अपराध मन्त्री कहा जाना चाहिये। प्रदर्शनकारियों ने नेतन्याहू को कोविड -19 महामारी को ग़लत बताने के लिए भी दोषी ठहराया था।

इस पूरी स्थिति से हम समझ सकते हैं कि आज पूरी दुनिया में फ़ासीवादी और धुर दक्षिणपन्थी ताक़तों का उभार हो रहा है। यह दर्शाता है कि हर जगह प्रतिक्रियावादी ताक़तें जनता के हक़ अधिकार छीनने पर आमादा है। चाहे वह हंगरी सरकार द्वारा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कमज़ोर करने की बात हो या ट्रम्प के प्रशासन के समय अमेरिका की न्यायपालिका में हस्तक्षेप करने की बात हो या मोदी सरकार द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करने की बात हो या इनके अलावा पोलैंड और तुर्की जैसे देश, जहाँ पर भी न्यायपालिका को कमज़ोर करने की कोशिश की बात हो। हर जगह संकटग्रस्त पूँजीवाद के कारण न्यायपालिका के रूप में पूँजीवाद के सुदूर पहरेदार का ख़र्च उठाने के लिए पूँजीपति वर्ग तैयार नहीं है क्योंकि मुनाफ़े के संकट से निपटने में वह बाधाएँ खड़ी करती है। इज़रायल की जनता द्वारा प्रतिरोध अच्छी बात है, लेकिन इसी इज़रायली जनता के बड़े हिस्से का पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसा नस्लवादी ब्रेन वॉश किया गया है कि फिलिस्तीनी जनता के इज़रायली ज़ायनवादी नरसंहार पर इसका बड़ा हिस्सा या तो अपने शासक वर्ग का समर्थन करता है या चुप रहता है। लेकिन जब आप अपने देश के प्रतिक्रियावादी, फासीवादी, नस्लवादी सत्ता का समर्थन करते हैं, तो अन्ततः आपका भी नम्बर आता ही है। इज़रायली जनता का एक हिस्सा शायद अब इस बात को समझ रहा हो।

मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

1. क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(चौथी क़िस्त)

शिवानी

'मज़दूर बिगुल' के पिछले तीन अंकों से हमने इस श्रृंखला के तहत मज़दूर आन्दोलन में मौजूद अर्थवाद की ख़तरनाक ग़ैर-सर्वहारा प्रवृत्ति के कई आयामों से अपने पाठकों को अवगत कराया है। अर्थवाद को लेकर अब तक जितनी भी चर्चा यहाँ की गयी है वह दरअसल मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक लेनिन की अवस्थिति की ही पुनःप्रस्तुति कही जा सकती है क्योंकि जितने शानदार तरीक़े से लेनिन ने इस विजातीय प्रवृत्ति पर विचारधारात्मक चोट की वह अतुलनीय है। प्लेखानोव और मार्तोव ने भी अर्थवाद की आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान किया था लेकिन अर्थवाद की विचारधारात्मक-राजनीतिक जड़ों पर सबसे मज़बूत हमला लेनिन ने **'क्या करें?'** समेत अपने 1899 से लेकर 1903 तक की तमाम रचनाओं में किया जिसका उल्लेख हमने इस श्रृंखला की शुरुआत में भी किया था। इसलिए लेनिनवादी अवस्थिति को यहाँ प्रस्तुत करना बेहद ज़रूरी था क्योंकि आज मार्क्सवाद की खोल में लेनिन की अर्थवाद के विषय में पेश की गयी आलोचना का विकृतीकरण भी चलन में है।

बहरहाल, पिछली तीन क़िस्तों में हमने अर्थवाद का खण्डन प्रस्तुत करते हुए सचेतनता के बरक्स स्वतःस्फूर्तता के अनालोचनात्मक जश्न, मज़दूर आन्दोलन के भीतर सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी विचारधारा और दर्शन यानी कि मार्क्सवाद के "बाहर से" प्रवेश की लेनिनवादी सोच से परहेज़ और सामाजिक जनवादी/कम्युनिस्ट चेतना व राजनीति के स्थान पर ट्रेड यूनियनवादी चेतना व राजनीति की वक़ालत और इसी को समस्त आन्दोलन का फ़लक बना देने की समझदारी आदि जैसे अर्थवादी प्रवृत्ति की चारित्रिक अभिलाक्षणिकताएँ पाठकों के समक्ष रखीं।

इसके साथ ही **राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन के प्रश्न** पर भी अर्थवादियों का सामाजिक जनवादियों से मतभेद था। हमने पिछले अंक में देखा था कि मार्तिनोव समेत अन्य रूसी अर्थवादी केवल और केवल आर्थिक संघर्षों के ज़रिये ही जनसमुदायों को राजनीतिक संघर्ष में शामिल करने का रास्ता सुझाते थे जो वास्तव में उनकी अर्थवादी राजनीति को ही बेनक़ाब करती थी। जनता के व्यापक हिस्सों का राजनीतिकरण केवल आर्थिक मसलों के ज़रिये ही नहीं होता है बल्कि दमन-उत्पीड़न या आम जनवादी माँगों के ऊपर संघर्ष संगठित करके भी होता है या यूँ कहें कि आम तौर पर और इतिहास में भी इन्हीं कारणों से ऐसा अधिक हुआ है। **'क्या करें?'** में लेनिन मार्तिनोव के अर्थवाद को प्रचार और उद्वेलन के मामले में प्रस्तुत की गयी उसकी अवस्थिति के माध्यम से भी उजागर करते हैं। प्लेखानोव द्वारा इस विषय पर पेश किये गए निम्न विचार को ही लेनिन विस्तारित करते हैं: "प्रचारक एक या चन्द व्यक्तियों के समक्ष अनेक विचार पेश करता है, उद्वेलक केवल एक या चन्द विचार पेश करता है, हालाँकि वह उन्हें आम जनता के सामने रखता है।" जिसका कि विकृतीकरण मार्तिनोव द्वारा किया गया था। **'क्या करें?'** में ही लेनिन लिखते हैं:

"अभी तक (प्लेखानोव की भाँति, और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के सभी नेताओं की भाँति) हम भी यही समझते थे कि जब, मिसाल के लिए, बेरोज़गारी के उसी प्रश्न पर **प्रचारक** बोलता है, तो उसे आर्थिक संकटों के पूँजीवादी स्वरूप को समझाना चाहिए, उसे बताना चाहिए कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के संकटों का आना क्यों अवश्यम्भावी है और इसलिए क्यों इस समाज को समाजवादी समाज में बदलना ज़रूरी है, आदि। सारांश यह कि प्रचारक को सुननेवालों के सामने "बहुत-से विचार" पेश करने चाहिए, इतने सारे विचार कि केवल (अपेक्षाकृत) थोड़े-से लोग ही उन्हें एक अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई के रूप में समझ सकेंगे। लेकिन इसी प्रश्न पर जब कोई **उद्वेलक** बोलेगा, तो वह किसी ऐसी बात का उदाहरण देगा, जो सबसे अधिक ज्वलन्त हो और जिसे उसके सुननेवाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों - मसलन, भूख से किसी बेरोज़गार मज़दूर के परिवारवालों की मौत, बढ़ती हुई ग़रीबी, आदि – और फिर इस मिसाल का इस्तेमाल करते हुए, जिससे सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं, वह "आम जनता" के सामने बस एक विचार रखने की कोशिश करेगा, यानी यह कि यह अन्तर्विरोध कितना बेतुका है कि एक तरफ़ तो सम्पत्ति और दूसरी तरफ़, ग़रीबी बढ़ती जा रही है। इस घोर अन्याय के विरुद्ध उद्वेलक जनता में असन्तोष और गुस्सा पैदा करने की कोशिश करेगा तथा इस अन्तर्विरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा।"

राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन की यह लेनिनवादी व्याख्या आज भी हमारे लिए बेहद उपयोगी है। इसके बाद लेनिन मार्तिनोव की इस सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी अवस्थिति की धज्जियाँ उड़ाते हुए कहते हैं कि "व्यावहारिक कार्य का एक तीसरा अलग क्षेत्र या तीसरा अलग कार्य बनाना और इस कार्य में "कुछ ठोस कार्रवाइयों के लिए जनता का आह्वान करने" को शामिल करना – यह सरासर बकवास है, क्योंकि एक अकेले कार्य के रूप में यह "आह्वान" या तो स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी रूप से सैद्धान्तिक पुस्तक, प्रचार पुस्तिका और उद्वेलनात्मक भाषण के पूरक का काम करता है या वह केवल कार्यकारी भूमिका अदा करता करता है।" पाठक देख सकते हैं कि किस प्रकार अर्थवादी राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन की आवश्यक कार्रवाइयों को भी अर्थवादी प्रदूषण से दूषित करने का एक अवसर नहीं छोड़ते हैं।

यहाँ एक और तथ्य भी रेखांकित करना आवश्यक है। वह यह है कि लेनिन और प्लेखानोव के अलावा अलग से **स्तालिन** ने भी अर्थवाद का खण्डन करते हुए मज़दूर वर्ग को सचेतन तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित करने की ज़रूरत पर बल दिया। 1901 में अपने लेख **'रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी और उसके फ़ौरी कार्यभार'** में स्तालिन ने लिखा था कि सामाजिक जनवादी/कम्युनिस्ट आन्दोलन के अस्तित्व में आने से पहले रूस में मज़दूरों का आन्दोलन स्वतःस्फूर्तता के दायरे से बाहर नहीं आया था; सामाजिक जनवादियों ने पहली बार रूस में मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना से लैस करने का काम अपने हाथों में लिया। अर्थवादियों के बारे में स्तालिन ने इस रचना में लिखा, "स्वतःस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने की बजाय, जनसमुदायों को सामाजिक-जनवादी आदर्शों से ओत-प्रोत करने की बजाय और हमारे अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्हें निर्देशित करने की बजाय, रूसी सामाजिक-जनवादियों का यह हिस्सा (यानी अर्थवादी- *लेखिका*) इस आन्दोलन का अन्धा उपकरण बन गया; यह मज़दूरों के अनुपयुक्त रूप से शिक्षित हिस्से के पीछे आँख मूँदकर चलता रहा और इसने अपने आपको उन आवश्यकताओं और ज़रूरतों को सूत्रबद्ध करने तक सीमित कर दिया जिनके प्रति मज़दूरों के जनसमुदाय उस समय सचेत थे। संक्षेप में, यह खड़ा होकर एक खुले दरवाज़े को खटखटाता रहा, और घर में प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाया। यह मज़दूरों के जनसमुदायों को न तो अन्तिम लक्ष्य – यानी कि समाजवाद – के बारे में समझा पाया और न ही तात्कालिक लक्ष्य – यानी कि निरंकुश तन्त्र को उखाड़ फेंकने – के बारे में; और इससे भी ज़्यादा निन्दनीय बात यह थी कि इसने इन दोनों ही लक्ष्यों को बेकार, बल्कि नुक़सानदेह तक माना। यह रूसी मज़दूरों को बच्चों की तरह मानता था और उसे डर था कि वह कहीं ऐसे विचारों से उन्हें डरा न दे। यही नहीं, सामाजिक-जनवाद के कुछ दायरों में समाजवाद लाने के लिए भी क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उनकी राय में जिस चीज़ की ज़रूरत थी वह था महज आर्थिक संघर्ष – हड़तालें और ट्रेड यूनियन, उपभोक्ता व उत्पादक सहकारी संघ, और बस, यह रहा समाजवाद।" यहाँ जो गौरतलब बात है वह यह है कि अभी तक स्तालिन की लेनिन से मुलाक़ात नहीं हुई थी और स्तालिन लेनिन की कुछ रचनाओं से ही परिचित थे यानी स्तालिन स्वतन्त्र रूप से इस समझदारी पर ख़ुद भी पहुँच रहे थे।

अर्थवाद दरअसल मज़दूरों द्वारा किसी स्वतन्त्र राजनीतिक पार्टी के नेतृत्व में संगठित होने की कोई ज़रूरत समझता ही नहीं है। अर्थवादियों की माने तो मज़दूरों के जन संगठन यानी कि ट्रेड यूनियन ही मज़दूरों के आर्थिक व अन्य अधिकारों की नुमाइन्दगी करने के लिए काफ़ी है। जहाँ तक रूस के अर्थवादियों का प्रश्न था तो उनका मत था कि मज़दूर वर्ग को आर्थिक हक़ों की लड़ाई तक ही ख़ुद को महदूद रखना चाहिए और राजनीतिक संघर्ष और नेतृत्व का काम उदार बुर्जुआ वर्ग पर छोड़ देना चाहिए, वहीं लेनिन का मानना था कि रूस में राजनीतिक संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए जोकि उस वक़्त जनवादी कार्यभारों को पूरा करने का कार्यभार था, उदार पूँजीपति वर्ग के भरोसे नहीं रहा जा सकता है, जो सर्वहारा वर्ग के उग्र होते संघर्ष के समक्ष किसी भी समय प्रतिक्रियावाद की गोद में बैठने को तैयार है। लेनिन के शब्दों में रूस में "राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने का कार्यभार भी सर्वहारा वर्ग के मज़बूत कन्धों पर आ पड़ा था।" लेकिन यह काम मज़दूर वर्ग महज़ आर्थिक संघर्ष लड़कर पूरा कर ही नहीं सकता था। मज़दूर वर्ग केवल और केवल अपनी हिरावल पार्टी के नेतृत्व में समूची मेहनतकश जनता का हिरावल बन सकता था और उपरोक्त कार्यभार पूरा कर सकता था यानी केवल और केवल इसी रूप में एक राजनीतिक वर्ग के तौर पर अस्तित्व में आ सकता था।

यह बात एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु से जाकर जुड़ती है जिसपर चर्चा के साथ हम अर्थवाद पर अपनी इस कड़ी को फिर विराम दे सकते हैं। वह बिन्दु है जन संगठन व पार्टी संगठन के बीच का फ़र्क और विशिष्ट तौर पर ट्रेड यूनियन और पार्टी के बीच का फ़र्क। इस पर तफ़सील से चर्चा हम अगले अंक में करेंगे लेकिन अभी यहाँ कुछ नुक्तों पर हम अपनी बात रखेंगे जिसको हम अगले अंक में लेनिन के हवाले से उद्धरणों के ज़रिये पुष्ट भी करेंगे।

दरअसल अर्थवाद की प्रवृत्ति में मज़दूर वर्ग की हिरावल पार्टी की भूमिका को कम करके आँकने या उसे सिरे से ख़ारिज करने की सोच कहीं न कहीं मौजूद होती है। यदि पार्टी की अनिवार्यता अर्थवादियों द्वारा स्वीकार की भी जाती है तो वह एक ऐसी पार्टी होती है जिसकी अवधारणा लेनिनवादी बोल्शेविक पार्टी की अवधारणा से मीलों दूर होती है यानी कि खुली चवन्निया सदस्यता वाली एक जन पार्टी होती है। ज़ाहिर सी बात है, जो भी मज़दूर वर्ग की पूरी राजनीति को ट्रेड यूनियनवाद पर लाकर अपचयित या केन्द्रित कर देगा, वह एक तपी-तपाई गोपनीय ढाँचे वाली अनुशासित पार्टी की ज़रूरत को नहीं समझेगा। और ठीक यही रूस में हुआ भी। हमने पिछली क़िस्तों में भी चर्चा की थी कि रूस में अर्थवादियों के विरुद्ध लेनिन ने जो संघर्ष चलाया उसमें बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच होने वाले विभाजन के बीज थे। बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच फूट का तात्कालिक मुद्दा पार्टी सदस्यता की शर्तों का प्रश्न ही था जिसके मूल में मेंशेविकों का अर्थवाद था। 1903 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच विभाजन हुआ और इस विभाजन का मूल मुद्दा वास्तव में ''स्वतःस्फूर्तता'' और सचेतनता का प्रश्न, कम्युनिस्ट पार्टी की ज़रूरत और उसके सांगठनिक उसूलों का प्रश्न और क्रान्तिकारी विचारधारा और अर्थवाद के बीच का संघर्ष था। यह चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

वास्तव में जन संगठन और पार्टी संगठन के फ़र्क को न समझना समूचे मज़दूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के अन्तर को नहीं समझना है। कम्युनिस्ट पार्टी के दायरे में मज़दूर वर्ग के सबसे उन्नत, दृढ़ और प्रगतिशील तत्व आते हैं और वे ही पूरे मज़दूर वर्ग समेत आम मेहनतकश जनसमुदायों को उनके संघर्षों में क्रान्तिकारी नेतृत्व दे सकते हैं। मज़दूर वर्ग स्वयं यह कार्य स्वतःस्फूर्त रूप से नहीं कर सकता है और ख़ुद 'सामाजिक जनवादी' या कम्युनिस्ट चेतना तक नहीं पहुँच सकता है जैसा कि हमने बार-बार इंगित किया है। पार्टी संगठन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण और मार्क्सवादी विचारधारा पर निर्मित होता है जबकि जन संगठन न्यूनतम साझा कार्यक्रम पर गठित होते हैं, विचारधारा उनकी सदस्यता की कोई शर्त हो ही नहीं सकती है वरना वे सही मायनों में "जन" सगठन होंगे ही नहीं! लेकिन अर्थवाद ठीक इसी बात को नकार देता है। कम्युनिस्ट पार्टी एक जन पार्टी बनकर रह जाती है जिसमें कि हर हड़ताली मज़दूर सदस्य होने की अर्हता रखता है, जैसा कि बाद में मेंशेविकों ने पार्टी सदयस्ता पर अपना मत ज़ाहिर भी किया था।

यह सर्वहारा वर्ग के शिक्षक और नेता लेनिन ही थे जिन्होंने पार्टी सिद्धान्त को पहली बार व्यवस्थित किया, बल्कि कहना चाहिए कि मार्क्सवाद के पार्टी सिद्धान्त के प्रणेता वास्तव में लेनिन ही थे। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर बताया कि एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हर हालत में अपना गोपनीय ढाँचा क़ायम रखेगी। इसी प्रक्रिया में लेनिन ने बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों की नीव रखी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि उदार से उदार बुर्जुआ जनवादी गणराज्य में भी काम करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी अपने समूचे ढाँचे को कभी पूरी तरह

(पेज 12 पर जारी)

सूडान में गृहयुद्ध

- आदित्य आनन्द

पिछले 16 दिनों से (यह आर्टिकल लिखे जाने तक) अफ़्रीका के सूडान में एक गृहयुद्ध छिड़ा है जिसमें अब तक 500 से ज़्यादा लोगों की मौत हो चुकी है और 4000 से ज़्यादा लोग घायल हुए हैं। यह गृहयुद्ध सूडान के दो सेना बल सूडानीज़ आर्म्ड फोर्सेज़ (SRF) और रैपिड सपोर्ट फोर्सेज़ (RSF) (जिसे अर्द्ध सैनिक बल भी कहा जा रहा है) के बीच छिड़ा है। ये दोनों ही सेना की ही इकाइयाँ हैं जो सत्ता हासिल करने के लिए और जनता पर सैन्य तानाशाही लागू करने के लिए आपस में लड़ रहीं हैं। यह लड़ाई असल में जनता को लूटने की एक प्रतिस्पर्धा है।

2018–2019 में हुए विद्रोह के बाद देश में लम्बे समय से शासन कर रहे निरंकुश शासक उमर अल-बशीर को सत्ता से बेदखल कर दिया गया था। अल-बशीर के शासनकाल में जनता पहले ही सैन्य तानाशाही का शिकार थी। 2018 में जब हालात बदतर हो गये और लोग जब अन्न और रोटी तक को मोहताज हो गये, तो लोगों का एक विद्रोह शुरू हो गया। किसी भी देश में क्रान्ति के लिए तीन शर्तों के पूरे होने की ज़रूरत होती है: पहला, आर्थिक व राजनीतिक संकट के फलस्वरूप शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में अक्षम हो जाये और राज्यसत्ता के तमाम निकाय इस शासन को लागू करने की क्षमता खो बैठें; दूसरा, जनता के जुझारू जनान्दोलन मौजूद हों; और तीसरा, इन जनान्दोलनों को एक पूँजीवाद-विरोधी राजनीतिक आन्दोलन में तब्दील करने के लिए एक सूत्र में पिरोने का काम करने वाली एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हो जो सही राजनीतिक व विचारधारात्मक लाइन और सही कार्यक्रम के आधार पर एक विकल्प पेश कर सकती हो। सूडान में पहली दोनो शर्तें तो पूरी हो रही थीं, लेकिन किसी हिरावल पार्टी के न होने के कारण यह विद्रोह क्रान्ति में तब्दील नहीं हो सका। नतीज़तन तानाशाही से त्रस्त होकर जनता का विद्रोह बस सत्ता परिवर्तन तक ही सीमित रह गया। इसके बाद दो साल के लिए सत्ता सिविलियन सरकार के रूप में प्रधानमंत्री अब्दुल हमदोक के हाथ में आयी, पर 2021 में सैन्य जनरलों ने वापस तख़्तापलट कर दिया। मतलब यह कि दो साल के भीतर ही जनता के विद्रोह से बदली सत्ता को पलटकर पहले के समान सैन्य तानाशाही लागू हो गयी।

तख़्तापलट के बाद एक समझौते के तहत हमदोक को उनके पद पर दोबारा नियुक्त किया गया, लेकिन तब से सेना एक सम्प्रभु परिषद के माध्यम से देश चला रही थी, जिसकी सह-अध्यक्षता आरएसएफ़ प्रमुख जनरल मोहम्मद हमदान कर रहा था और इसकी कमान सेना प्रमुख जनरल अब्देल अल-बुरहान ने सम्भाली थी। सूडानी सेना ने दो साल के भीतर आरएसएफ़ को अपने में शामिल करने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन आरएसएफ़ इसके लिए तैयार नहीं हुआ। अब सत्ता पर कमान सम्भालने के लिए (जो असल में जनता को लूटने के एकाधिकार पर अपना क़ब्ज़ा जमाने की जद्दोजहद ही है) दोनों सेना बलों ने देश को युद्ध में धकेल दिया है और इसका ख़ामियाजा जनता भुगत रही है।

कहने को तो 2021 के तख़्तापलट के बाद से दोनो सेनाएँ संयुक्त रूप से सरकार चला रही थी, परन्तु दोनों सेनाओं के जनरल हमदान और बुरहान तब से ही सत्ता पर अपना-अपना कब्ज़ा स्थापित करने के लिए अलग–अलग साम्राज्यवादी ताक़तों की मदद से अपनी तिकड़म भिड़ा रहे थे। पर पिछले कुछ हफ़्तों से कुछ निष्कर्ष नहीं निकलने पर इनके बीच संघर्ष तेज़ हो गया जिसने इस गृहयुद्ध का रूप ले लिया। इस बीच रूस और अमेरिका जैसी साम्राज्यवादी ताक़तों द्वारा हस्तक्षेप की भी पुरज़ोर कोशिश की जा रही है, जिसमें रूस कुछ हद तक सफ़ल भी हुआ है। वह दोनों ही सेना को हथियार पहुँचा रहा है, इस उम्मीद से की चाहे सत्ता में कोई भी आये, उनकी साम्राज्यवादी लालसाएँ पूरी होनी चाहिए।

देश की राजधानी खार्तूम समेत कई शहर इस युद्ध का शिकार हुए हैं, और यहाँ आम जनता के लिए जीना मुश्किल हो गया है। झड़पों से बचने के लिए लोग घरों, स्कूलों और अस्पतालों में फँसे हुए हैं। खार्तूम में व्यापक रूप से बिजली और पानी की कमी हो गयी है, और बहुत से लोगों को भोजन और दवा तक नहीं मिल रहा है। इसी बीच सैन्य बलों द्वारा बाज़ारों और घरों में भारी लूट की ख़बरें भी आयी हैं।

अफ़्रीका के कई देशों के समान सूडान में भी साम्राज्यवादी देशों, विशेषकर, अमेरिका व यूरोप का गठजोड़ और रूस-चीन गठजोड़, की गिद्ध-दृष्टि अपनी लूट को स्थापित करने के लिए बनी रही है। पारम्परिक तौर पर, अफ़्रीका के अधिकांश देशों में औपनिवेशिक अतीत के कारण विशेष तौर पर फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, जर्मनी, बेल्जियम जैसे साम्राज्यवादी देशों का दख़ल और दबदबा रहा है। अब रूस-चीन धुरी इन पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों को कुहनी मारकर कई अफ़्रीकी देशों में अपने प्रभाव-क्षेत्र से बाहर करने का प्रयास कर रही है और कई देशों में ये सफल भी रही है। सूडान में आन्तरिक वर्ग अन्तरविरोधों को एक विशेष दिशा में विकसित करने में इन साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा की भी भूमिका रही है। किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व की अनुपस्थिति में साम्राज्यवाद अपने हस्तक्षेप को ज़्यादा कुशलता और कारगर तरीके से करने में सफल रहा है। देशी शासक वर्ग के विभिन्न धड़ों का अपने तरीके से इस्तेमाल करके साम्राज्यवाद यह काम कई अफ़्रीकी देशों में करता रहा है और अभी भी कर रहा है। इसी के नतीजे के तौर पर सूडान का आज एक विनाशकारी गृहयुद्ध की विभीषिका को झेलना पड़ रहा है।

वैसे भी ऐसे किसी भी युद्ध में नुक़सान हमेशा आम जनता का ही होता है। मुनाफ़े और सत्ता की लालसा में ऐसे तमाम युद्ध कराये जाते हैं, जिसके निष्कर्ष से बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसके उलट इसका सबसे बड़ा ख़ामियाज़ा उन्हें ही भुगतना पड़ता है। इनमें मरने वालों की संख्या में आम घरों के लोग ही अधिक होते हैं। इस दौरान तो हज़ारों–लाखों लोगों का जीना तो मुश्किल होता ही है, साथ ही इसके परिणामस्वरूप लम्बे दौर तक जनता संकट का शिकार रहती है। इन युद्धों में साम्राज्यवादी ताक़तों का हस्तक्षेप भी अपने देश के पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने की ख़ातिर ही होता है। कई बार तो जानबूझ कर ऐसे देशों को युद्ध में धकेला जाता है ताकि हथियारों से कमाई तो हो ही, साथ इन देशों में ऐसी सरकारें अस्तित्व में आ सकें जो उक्त साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक हितों के लिए अनुकूल हो। सीरिया, अफ़ग़ानिस्तान जैसे कई उदाहरण हमारे पास हैं जिसमें इन साम्राज्यवादी ताक़तों ने मुनाफ़े की हवस में देशों को युद्ध में धकेल दिया और हज़ारों–लाखों–करोड़ों लोग इसका ख़ामियाजा भुगतने पर मजबूर हुए।

सूडान में हो रहा गृहयुद्ध भी सत्ता में पहुँचने और मुनाफ़े की लूट पर अपना आधिपत्य जमाने की चाहत ही है, जिसके लिए दो गिद्ध आपस में लड़ रहे हैं। इस कुत्ताघसीटी में आम जनता पिस रही है। इसी में अपना हिस्सा बनाने की कोशिश में अमेरिका और रूस लगे हैं। इस बात से इन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ता की इसमें आम जनता के साथ क्या होता है। ऐसे में एक हिरावल क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में आम मेहनतकश वर्ग का एक संगठित संघर्ष ही इन्हें साम्राज्यवादी गिद्धों और देशी पूँजीपति वर्ग के शोषण और दमन से बचा सकता है।

क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(पेज 11 से आगे)

खुला नहीं कर सकती है। ऐसा करने का अर्थ होगा पार्टी और इस प्रकार क्रान्ति के भविष्य को बुर्जुआ राज्यसत्ता के रहमोकरम पर छोड़ना। लेनिन की इस महान ऐतिहासिक शिक्षा को इतिहास ने सही साबित किया है और दिखलाया है कि पूँजीवाद जब आर्थिक और राजनीतिक संकट का शिकार होता है तो उदार से उदार बुर्जुआ राज्यसत्ताएँ "जनवाद" के मुखौटे को नोचकर फेंक देती हैं और मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के समक्ष अपने 'खाने के दाँतों', यानी कि पुलिस, फ़ौज व सशस्त्र बलों के साथ उपस्थित हो जाती हैं। भारत में भाकपा, माकपा, भाकपा माले (लिबरेशन) जैसी चवन्निया सदस्यता वाली खुली संशोधनवादी पार्टियों ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को तिलान्जलि देते हुए संसदवाद, अर्थवाद और अवसरवाद पर अमल के साथ अपने असली चरित्र को स्वयं सबके सामने लाकर रख दिया है।

मुख्य बात यह है कि उपरोक्त लेनिनवादी अवस्थिति की जगह अर्थवादी जन पार्टी की अवधारणा के ज़रिये किसी भी प्रकार के राजनीतिक हिरावल की भूमिका को ही नकारने लगते हैं क्योंकि उनकी दलील ही यह है कि सर्वहारा वर्ग की आर्थिक कार्रवाइयाँ जैसे कि ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ और हड़तालें अन्ततः उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार कर देती है और ऐसा करते हुए पार्टी भी कमोबेश एक ट्रेड यूनियन जैसा जन संगठन बनकर रह जाती है। इस चर्चा को अगले अंक में जारी रखते हुए हम लेनिन के उद्धरणों के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास करेंगे की यह दरअसल गतिविधियों का सारतत्व होता है जो संगठन के चरित्र को निर्धारित करता है। ट्रेड यूनियन और पार्टी संगठन की गतिविधियों की विशिष्टता ही उनके चरित्र को निर्धारित करती है। लेकिन इसपर अगले अंक में। और इसके साथ ही हम अर्थवाद पर अपनी चर्चा को समाप्त करेंगे और फिर एक नयी प्रवृत्ति चर्चा की शुरुआत के साथ अपनी इस श्रृंखला जारी रखेंगे।

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स के जन्मदिवस (5 मई) के अवसर पर उनके कुछ उद्धरण

"अपने साहस, दृढ़निश्चय और आत्म-बलिदान के दम पर मज़दूर ही जीत हासिल करने के लिए मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार होंगे। निम्न पूँजीपति वर्ग (मध्य वर्ग - अनु.) जब तक सम्भव हो तब तक हिचकिचाएगा और भयभीत, ढुलमुल और निष्क्रिय बना रहेगा; लेकिन जब जीत सुनिश्चित हो जायेगी तो यह उस पर अपना दावा करेगा और मज़दूरों से क़ायदे से पेश आने के लिए कहेगा, और सर्वहारा वर्ग को यह जीत के फलों से वंचित कर देगा। ...बुर्जुआ जनवादियों के शासन में, शुरू से ही, इसके विनाश के बीज छिपे होंगे, और अन्ततोगत्वा सर्वहारा द्वारा इसे प्रतिस्थापित कर दिया जाना आसान बना दिया जायेगा।" **('फ्रांस में वर्ग संघर्ष')**

"कम्युनिज़्म हमारे लिए कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसे स्थापित किया जाना है, कोई ऐसा आदर्श नहीं है जिसके साथ यथार्थ को स्वयं को समायोजित करना है। हम कम्युनिज़्म को वह वास्तविक आन्दोलन कहते हैं जो वस्तुओं की मौजूदा अवस्था को ख़त्म कर देता है। इस आन्दोलन की परिस्थितियाँ इस समय अस्तित्वमान स्थितियों से ही उत्पन्न होती हैं।" **('जर्मन विचारधारा', 1845)**

"इस कम्युनिस्ट चेतना के बड़े पैमाने पर उत्पादन, और ...बड़े पैमाने पर मनुष्यों के रूपान्तरण दोनों के लिए, ...क्रान्ति आवश्यक है; और इसी वजह से लिए, यह क्रान्ति महज़ इसलिए आवश्यक नहीं है क्योंकि शासक वर्ग को किसी अन्य तरीक़े से उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि उसे उखाड़ फेंकने वाला वर्ग केवल क्रान्ति में ही अपने आप को सदियों की तमाम गन्दगी से मुक्त कर सकता है और नये समाज की नींव रखने के लिए तैयार हो सकता है।" **('जर्मन विचारधारा', 1845)**

मज़दूर वर्ग को आरएसएस द्वारा इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान को विकृत करने का विरोध क्यों करना चाहिए?

सनी

हाल ही में फ़ासीवादी मोदी सरकार के आदेश पर दसवीं कक्षा के पाठ्यक्रम से डार्विन उद्विकास की अवधारणा को हटा दिया गया है। यह शिक्षा के साम्प्रदायीकरण की भाजपा-संघ की मुहिम का ही उदाहरण है। 2014 से मोदी के सत्ता में आने के बाद से शिक्षा को संघ ने अपने निशाने पर लिया है। इतिहास तथा विज्ञान की हर उस अवधारणा और तथ्य को पाठ्यक्रम से हटाया जा रहा है या काँटा-छाँटा जा रहा है जो संघ-भाजपा की हिन्दुत्व विचारधारा के लिए चुनौती है। इतिहास और विज्ञान की जगह मिथकों और झूठ को परोसा गया है। **इसपर मज़दूर वर्ग का क्या नजरिया होना चाहिए?**

नहीं, मज़दूर वर्ग इस पर ऐसा नजरिया नहीं रख सकता है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि मनुष्य ब्रह्मा के चमत्कार से पैदा हुआ या उद्विकास की एक जटिल प्रक्रिया के जरिए वानर से नर बना। न वह इस सवाल से बेगाना रह सकता है कि भारत का इतिहास क्या है। जो यह कहे कि संघी सरकार बच्चों को विज्ञान और इतिहास की विकृत समझदारी देती है तो इसको ठीक करना महज़ बुद्धिजीवियों का काम है, केवल किताबी तथा अकादमिक कवायद है जिससे मज़दूरों के लिए कोई "कोई ठोस नतीजा" नहीं निकलता है, वह भयंकर भूल कर रहा है।

असल में इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान पर हमला मज़दूर वर्ग का ही मसला है। मज़दूर वर्ग को मोदी सरकार द्वारा तर्कणा पर हमले का प्रतिरोध करना होगा और समाज में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के मक़सद से धार्मिक पूर्वाग्रहों को मज़बूत करने के लिए उठाये कदमों का भण्डाफोड़ करना चाहिए। मज़दूर वर्ग इतिहास और प्रकृति-ज्ञान का सच्चा वारिस है और केवल वही इस ज्ञान को समस्त समाज के लिए सक्रिय व्यवहार में उतार सकता है। इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान मज़दूर वर्ग के विचारधारात्मक और राजनीतिक ज्ञान का ही अंग है।

क्या ऐसे मुद्दों पर बात करना समय की बर्बादी है, महज़ इसलिए कि यह मज़दूर वर्ग की आर्थिक माँगों से सीधे तौर पर नहीं जुड़ा है? हमें यह याद रखना होगा कि मज़दूर वर्ग के संघर्षों को केवल वेतन-भत्ते, कार्यस्थिति तथा जीवनस्थिति सम्बन्धी माँगों तक सीमित रखना अर्थवाद होता है जो कभी मज़दूर वर्ग को एक राजनीतिक चेतना से सम्पन्न वर्ग और इसलिए अपना शासन स्थापित करने में सक्षम वर्ग बनने ही नहीं देता। लेनिन ने कहा था: **"राजनीतिक भण्डाफोड़ के लिये सबसे आदर्श श्रोता मज़दूर वर्ग होता है, जो सर्वांगीण तथा सजीव राजनीतिक ज्ञान की आवश्यकता के मामले में सबसे अव्वल और सबसे आगे है, और इस ज्ञान को सक्रिय संघर्ष में परिणत करने की क्षमता भी उसी में सबसे ज़्यादा होती है, भले ही उससे "कोई ठोस नतीजे" निकलने की उम्मीद न हो।"**

लेनिन चेताते हैं कि मज़दूरों को केवल "मज़दूरों के साहित्य" की सीमाओं में बन्द रखना राजनीतिक भूल होगी। मज़दूर खुद प्राकृतिक विज्ञान से लेकर इतिहास पढ़ना चाहते हैं और पढ़ते भी हैं, जो भले ही बुद्धिजीवियों के लिए लिखा जाता है। लेनिन कहते हैं कि: **"मज़दूरों को यह करना पड़ेगा कि वे अपने को "मज़दूरों के साहित्य" की बनावटी संकुचित सीमाओं में बन्द न रखें और आम साहित्य पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करना सीखें। "अपने को बन्द न रखें" की जगह "उन्हें बन्द न रखा जाये" कहना ज़्यादा सही होगा, क्योंकि मज़दूर खुद वह सारा साहित्य पढ़ते हैं और पढ़ना चाहते हैं, जो बुद्धिजीवियों के लिए लिखा जाता है और यह चन्द (बुरे) बुद्धिजीवियों का ही विचार है कि कारखानों की हालत के बारे में दो-चार बातों को बता देना और पुरानी जानी हुई बातों को बार-बार दुहराते रहना ही "मज़दूरों के लिए" काफ़ी है।"**

लेनिन की उपरोक्त शिक्षाओं की रोशनी में ही हमें इस सवाल का जवाब देना होगा कि मज़दूरों को डार्विन का उद्विकास का सिद्धान्त क्यों जानना चाहिए और कक्षा दस के पाठ्यक्रम से हटाये जाने का विरोध क्यों करना चाहिए? डार्विन ने जीवन के भौतिकवादी आधार को स्थापित किया। साथ ही, उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जीवन के तमाम रूप यानी प्रजातियाँ उद्विकास की प्रक्रिया के ज़रिये बदलती रहती हैं। इसमें ईश्वर या किसी दैवीय शक्ति की कोई भूमिका नहीं है। जीवन की पहली प्रजाति के उद्भव से उद्विकसित होकर आज क़रीब 81 लाख प्रजातियाँ धरती पर मौजूद हैं। यह विशालकाय जीवन वृक्ष डार्विन के उद्विकास के सिद्धान्त द्वारा ही समझा जा सकता है। मनुष्य की प्रजाति **होमो सेपिएन्स सेपिएन्स** सहित तमाम प्रजातियाँ विकसित हो रही हैं। मनुष्य का उद्भव एक ऐसी प्रजाति से हुआ जो अब विलुप्त हो चुकी है। जैव जगत में तमाम प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं और आज का जीव जगत वैसा नहीं है जैसे यह पहले था। वायरस, बैक्टिरिया, लंगूर से लेकर केकड़ा सभी प्रजातियाँ पहले मौजूद प्रजातियों से विकसित होकर अस्तित्व में आई हैं। कई प्रजातियाँ एक ही प्रजाति से फूट कर पैदा हुई हैं जैसे पेड़ के तने से कई शाखाएँ निकलती हैं। समुद्र की गहराई से लेकर रेगिस्तान की तपिश में जीवन अपनी विविधता के साथ मौजूद है। लेकिन इस जैवविविधता का पहला क़दम यह है कि जीवन अजीवन से पैदा होता है। यह एक लम्बी कथा है।

धरती हमारे तारे सूरज से टूटकर बनी। जब धरती की सतह पर तापमान कम होता गया तो सागर और वायुमण्डल अस्तित्व में आया। धरती की परत ठोस बनी और पानी, हवा और धरती में मौजूद रसायनों में अन्तरक्रिया से जटिल रासायनिक संरचना बनने लगी। इन जटिल रासायनिक संरचनाओं से ही जीवन का पहला रूप यानी एककोशिकीय जीव अस्तित्व में आया। परन्तु जीवन रूप में परिवर्तन यहाँ थमता नहीं है। यह परिवर्तन ही जीवन की भिन्न प्रजातियों के परिवर्तन की प्रक्रिया यानी उद्विकास की प्रक्रिया कहलाता है। उद्विकास की लम्बी प्रक्रिया में ही मनुष्य भी 25 लाख साल पहले वानर से नर बनता है। यहीं से मानव इतिहास शुरू होता है जब मनुष्य अपने श्रम से खुद को गढ़ता है। यह सच है कि डार्विन का उद्विकास का सिद्धान्त पूर्ण नहीं था और यह नहीं समझता था कि जीवन के तमाम रूपों के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया में सिर्फ क्रमिकता नहीं होती, बल्कि उनमें क्रान्तिकारी छलाँगें भी लगती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारा समाज भी केवल क्रमिक परिवर्तनों के ज़रिये विकसित नहीं होता, बल्कि लगातार जारी क्रमिक परिवर्तनों की समूची ऐतिहासिक प्रक्रिया में बीच-बीच में अनिवार्यत: क्रान्तिकारी छलाँगें भी लगती हैं, जैसे कि रूस में मज़दूर क्रान्ति, चीन में मज़दूर क्रान्ति आदि।

लेकिन फिर भी डार्विन का सिद्धान्त सही दिशा में एक महान क्रान्तिकारी छलाँग था। डार्विन का सिद्धान्त जीवन और मानव के उद्भव के बारे में किसी पारलौकिक हस्तक्षेप को खत्म कर जीवन जगत को उतनी ही इहलौकिक प्रक्रिया के रूप में स्थापित करता है जैसे फसलों का उगना, फ़ैक्ट्री में बर्तन या एक ऑटोमोबाइल बनना। **यह जीवन के भौतिकवादी आधार तथा उसकी परिवर्तनशीलता को सिद्ध करता है। यह विचार ही शासक वर्ग के निशाने पर है।** संघ अपनी हिन्दुत्व फ़ासीवादी विचारधारा से देशकाल की जो समझदारी पेश करना चाहता है उसके लिए उसे जनता की धार्मिक मान्यताओं पर सवाल खड़ा करने वाले हर तार्किक विचार से उसे ख़तरा है। जनता के बीच धार्मिक पूर्वाग्रहों को मज़बूत बनाकर ही देश को साम्प्रदायिक राजनीति की आग में धकेला जा सकता है। अपने देश में अल्पसंख्यक मुस्लिम आबादी को "नकली शत्रु" के रूप में खड़ा करने के लिए संघ और भाजपा इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान की बुनियाद को ही तहस-नहस कर रहे हैं ताकि मिथकों को सामान्य ज्ञान के रूप में स्थापित किया जा सके। बुर्जुआ वर्ग की नग्न प्रतिक्रिया तानाशाही लागू करने वाले फासीवादी हुक्मरान हर प्रगतिशील विचार पर हमला कर रहे हैं तो यह मसला सबसे पहले मज़दूर वर्ग का ही है।

इतिहास की जगह मिथकों को नये सिरे से स्थापित करने वाले फासीवादी "मध्ययुगीन बर्बर" नहीं आधुनिक प्रतिक्रियावादी हैं। हमें यह भी समझना होगा कि एक तरफ़ जहाँ हुक्मरान डार्विन को स्कूली शिक्षा से हटा रहे हैं तो दूसरी तरफ़ जैनेटिक्स पर शोध (जिसका आधार डार्विन का सिद्धान्त ही है) तमाम निजी कम्पनियों तथा सरकारी शोध संस्थानों में जारी है। शासक वर्ग को आधुनिक विज्ञान और तकनोलॉजी के दम पर मेहनतकश वर्ग को लूटने के और कारगर तरीक़े ईज़ाद करने हैं परन्तु प्राकृतिक विज्ञान से जागृत होने वाली तर्कणा पर हमला करना है। प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन तर्कणा पैदा करता है और जीवन और समाज को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नज़रिये तक पहुँचाता है। यही वह कारण है जिसके चलते संघ आज डार्विन को स्कूली पाठ्यक्रम से हटाना चाहता है।

फ़ासीवादी आने वाली पीढ़ियों के वैज्ञानिक बोध को पटरा करना चाहते हैं जिससे कि "धर्म के कोहरे" से जनता की नज़र को धुँधला करके फासीवादी विचारधारा को और मज़बूत किया जा सके। हमें इस हमले का मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए। सर्वहारा वर्ग "धर्म के कोहरे" के खिलाफ़ विज्ञान का सहारा लेता है। लेनिन ने कहा: **"आज का सर्वहारा समाजवाद का पक्ष ग्रहण करता है जो धर्म के कोहरे के खिलाफ संघर्ष में विज्ञान का सहारा लेता है और मज़दूरों को इसी धरती पर बेहतर जीवन के लिए वर्तमान में संघर्ष के लिए एकजुट कर उन्हें मृत्यु के बाद के जीवन के विश्वास से मुक्ति दिलाता है।"** पर जब हम यह कह रहे हैं तो हम यह भी जानते हैं कि जनता के समस्त हिस्सों को केवल विज्ञान-प्रचार के दम पर "धर्म के कोहरे" से दूर तथा वैज्ञानिक चेतना से लैस नहीं किया जा सकता है। इस मसले में लेनिन की समझदारी स्पष्ट है। लेनिन कहते हैं: **"आधुनिक पूँजीवादी देशों में धर्म की ये जड़ें मुख्यत: सामाजिक हैं। आज धर्म की सबसे गहरी जड़ मेहनतकश अवाम की सामाजिक रूप से पददलित स्थिति और पूँजीवाद की अन्धी शक्तियों के समक्ष उसकी प्रकटत: पूर्ण असहाय स्थिति है, जो हर रोज और हर घण्टे सामान्य मेहनतकश जनता को सर्वाधिक भयंकर कष्टों और सर्वाधिक असभ्य अत्याचारों से संत्रस्त करती है, और ये कष्ट और अत्याचार असामान्य घटनाओं जैसे युद्धों, भूचालों, आदि से उत्पन्न कष्टों से हजारों गुना अधिक कठोर हैं। "भय ने देवताओं को जन्म दिया।" पूँजी की अन्धी शक्तियों का भय अन्धी इसलिए कि उन्हें सर्वसाधारण अवाम सामान्यत: देख नहीं पाता एक ऐसी शक्ति है जो सर्वहारा वर्ग और छोटे मालिकों की ज़िन्दगी में हर कदम पर "अचानक", "अप्रत्याशित", "आकस्मिक", तबाही, बरबादी, गरीबी, वेश्यावृत्ति, भूख से मृत्यु का खतरा ही नहीं उत्पन्न करती, बल्कि इनसे अभिशप्त भी करती है। ऐसा है आधुनिक धर्म का मूल जिसे प्रत्येक भौतिकवादी को सबसे पहले ध्यान में रखना चाहिए, यदि वह बच्चों के स्कूल का भौतिकवादी नहीं बना रहना चाहता। जनता के दिमाग से, जो कठोर पूँजीवादी श्रम द्वारा दबी-पिसी रहती है और जो पूँजीवाद की अन्धी विनाशकारी शक्तियों की दया पर आश्रित रहती है, शिक्षा देने वाली कोई भी किताब धर्म का प्रभाव तब तक नहीं मिटा सकती, जब तक कि जनता धर्म के इस मूल से स्वयं संघर्ष करना, पूँजी के शासन के सभी रूपों के ख़िलाफ़ ऐक्यबद्ध, संगठित, सुनियोजित और सचेत ढंग से संघर्ष करना नहीं सीख लेती।"** और आगे लेनिन कहते हैं कि हमें "धर्म के विरुद्ध संघर्ष को एक अमूर्त ढंग से नहीं, परोक्ष, शुद्ध सैद्धान्तिक, अपरिवर्तनीय उपदेशों के आधार पर "नहीं चलाना चाहिए बल्कि उसे ठोस रूप में, वर्ग संघर्ष के आधार पर" चलाना चाहिए।

हमारा कार्यभार मेहनतकश अवाम को प्राकृतिक विज्ञान तथा इतिहास से परिचित कराना है जिससे कि उसे फ़ासीवादी प्रचार के आधारभूत धार्मिक पूर्वाग्रहों से मुक्त किया जाए। लेकिन साथ ही हम मेहनतकश अवाम का धर्म की जड़ से संघर्ष करने यानी पूँजी के शासन के सभी रूपों के ख़िलाफ़ ऐक्यबद्ध, संगठित, सुनियोजित और सचेत ढंग से संघर्ष करने का आह्वान भी करते हैं। दोनों कार्यभार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस रोशनी में साफ़ है कि आज फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा डार्विन को स्कूली पाठ्यक्रम से हटाने का मज़दूर वर्ग को विरोध करना होगा।

माटसाब उर्फ़ पटना के दोन किहोते* अजय सिन्हा व उनकी "यथार्थवादी" मण्डली की नयी "खोज" के बारे में दो शब्द

अमित

अभी कुछ ही समय पहले माटसाब ने अपने "मार्क्सवाद के ज्ञान का अनोखा उपयोग/प्रयोग" करते हुए एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जो साथी मार्क्सवादी भू-लगान सिद्धान्त, सोवियत समाजवादी संक्रमण में खेती व किसान प्रश्न से लेकर महँगाई और संकट के मार्क्सवादी सिद्धान्तों तक इन महोदय के "ज्ञान" के विषय में जानना चाहते हैं, वे निम्न लिंक्स पर जाकर पढ़ सकते हैं, बल्कि हम विशेष आग्रह करेंगे कि इन्हें अवश्य पढ़ें:

https://redpolemique.wordpress.com/.../ajay-sinha-aka.../

(Ajay Sinha aka Don Quixote de la Patna's Disastrous Encounter with Marx's Theory of Ground Rent (and Marx's Political Economy in General))

https://ahwanmag.com/archives/7714

(मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना)

https://ahwanmag.com/archives/7719

(धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग)

https://ahwanmag.com/archives/7726

(पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियाँ और बड़बड़ाहट)

https://ahwanmag.com/archives/7748

(पटना के दोन किहोते ने 'द टूथ' से 'यथार्थ' तक पहुँचने में अपना मानसिक सन्तुलन कैसे खोया?)

https://ahwanmag.com/archives/7831

(हमारा आख़िरी जवाब - कुतर्कों, कठदलीली, कूढ़मग़ज़ी और कुलकपरस्ती की पवनचक्की के पंखों में गोल-गोल घिसट रहे दोन किहोते दि ला पटना और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली)

●

पीआरसी सीपीआई (एमएल) के "महासचिव" महोदय की मार्क्सवादी समझदारी का आलम यह था कि इन्हें सामाजिक मूल्य, उत्पादन की क़ीमत (prices of production), बाज़ार क़ीमत, निरपेक्ष लगान, विभेदक लगान, आदि बुनियादी श्रेणियों के बारे में भी नहीं पता था। जब आपके "प्रचण्ड ज्ञान" का स्तर ऐसा हो तो आपसे आये दिनों नये-नये "चमत्कारों" की उम्मीद की जा सकती है! अभी कुछ ही दिनों पहले इन्होंने एक और आँखें चुँधिया देने वाला "चमत्कार" किया है और पटना के दोन किहोते के, अपने स्वतन्त्र विवेक को तिलाँजलि दे चुके, साँचो पान्जाओं की कोचिंग सेण्टर मण्डली अपने गर्वीले सूरमा के नये "चमत्कार" की अपरम्पार महिमा में नहाकर भजन-कीर्तन में मगन हो गयी है। आइये, इस नये "चमत्कार" को देखते हैं और अपने ज्ञानचक्षु खोलकर हम भी थोड़ा लाभान्वित हो लेते हैं!

माटसाब अजय सिन्हा का कहना है कि धनी किसानों और कुलकों से एमएसपी या लाभकारी मूल्य (यानी, बेशी मुनाफ़ा देने वाली राज्य द्वारा निर्धारित इजारेदार कीमतें जो खाद्यान्न की महँगाई बढ़ाती हैं) पर फसलों की पूर्ण सरकारी ख़रीद की गारण्टी की माँग एक समाजवादी व क्रान्तिकारी माँग है और चूँकि पूँजीवादी राज्य इस माँग को पूरा नहीं कर रहा इसलिए यह पूँजीवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। चूँकि समाजवादी राज्य ही इनकी एमएसपी पर समूची फसल ख़रीद की गारण्टी की माँग पूरी कर सकता है (!) इसलिए धनी किसानों को ("महासचिव" श्रीमान अजय सिन्हा द्वारा) समझाने पर वे समाजवादी क्रान्ति के समर्थन में आ जायेंगे!

इसके अलावा माटसाब यह भी दोहराते हैं कि अब इन कुलकों को बाज़ार की अराजकता की वजह से खुले बाज़ार में मिलने वाली ऊँची कीमतों का लालच बिल्कुल नहीं रह गया है! वे चाहते हैं कि उनके फसलों की एमएसपी पर पूर्ण सरकारी ख़रीद की गारण्टी हो! बाज़ार से दूर हो गये हैं! पटना के दोन किहोते भी 'ला मांचा के दोन किहोते'* के समान अपने साँचो पांजाओं के समक्ष इस बात को अपनी उपलब्धि की तरह पेश करते हुए बार-बार अपनी ही पीठ थपथपाते हैं कि ऐसा वे बहुत पहले से कहते आ रहे हैं! और बिल्कुल ला मांचा के दोन किहोते के ही समान पटना के दोन किहोते के ये दावे भी तथ्यों व तर्कों के बजाय गल्पकथाओं और कपोल कल्पनाओं पर आधारित हैं! ये न सिर्फ़ तथ्यत: ग़लत हैं बल्कि ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक तौर पर भी इन दावों के ज़रिये माननीय "महासचिव" श्री अजय सिन्हा ने ग़ज़ब की मूर्खताएँ पेश की हैं। आइये, थोड़ा गहराई से समझते हैं।

पहली बात तो यही है कि धनी किसान और कुलकों की माँग यह है कि राज्य उनको एमएसपी की गारण्टी दे ताकि अगर खुले बाज़ार की स्थितियों में आने वाले परिवर्तनों की वजह से कीमतें नीचे जाती हैं, मुनाफ़े की दर नीचे जाती है, तो उनके लिए एमएसपी के ज़रिये भारी बेशी मुनाफ़े का एक सुरक्षा कवच बना रहे। लेकिन अगर खुले बाज़ार में कीमतें ऊँची होती हैं तो वह खुले बाज़ार में बेचने की पूरी आज़ादी भी चाहते हैं। समूची फसल की ख़रीद की ऐसी गारण्टी, जो धनी किसानों-कुलकों को भी बाध्य करे कि वे सरकार को बिकवाली अनिवार्यत: करेंगे, न तो वे माँग रहे हैं और न ही कोई पूँजीपति वर्ग कभी ऐसी कोई गारण्टी माँगता है। क्योंकि उसके बेचने-ख़रीदने की पूरी आज़ादी में कोई कानून या नियम किसी प्रकार की बाधा खड़ी करे, यह उसे उसके सम्पत्ति व मुनाफ़े के अधिकार पर ही चोट प्रतीत होता है और पूँजीवादी नज़रिये से होता भी है! यह धनी किसान-कुलक वर्ग खेतिहर पूँजीपति वर्ग ही है जो उजरती श्रम का शोषण कर खेतिहर मज़दूरों को लूटता है; और सूदखोरी और वाणिज्यिक मुनाफ़े के ज़रिये ग़रीब व निम्न-मध्यम किसान वर्ग को भी लूटता है।

इसलिए पहली बात तो यह है कि ये धनी किसान और कुलक, जिनकी ट्राली में सवार होकर पटना के दोन किहोते, यानी श्रीमान अजय सिन्हा, भविष्य के "शासक" बनने के सपने सँजोए हुए हैं (हमें तो इस बात की भी आशंका है कि माटसाब अपने साँचों-पान्जाओं में से 'कमिसार परिषद्' का चुनाव भी कर चुके हैं!) केवल बेशी मुनाफ़े की गारण्टी चाहते हैं और यह आज़ादी चाहते हैं कि जब वह खुले बाज़ार में मिले तो वे वहाँ से हासिल करें और जब ऐसा न हो तो एमएसपी का सुरक्षा जाल तो बना ही रहे! एक पूँजीपति वर्ग के तौर पर यह अपने हितों के प्रति बिल्कुल सचेत है और देश के औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग से इसका झगड़ा केवल कुल विनियोजित बेशी मूल्य में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने की है। ज़रूरत पड़ने पर यह संरक्षणवादी हो जाता है, और ज़रूरत पड़ने पर मुक्त व्यापारवादी! इन्हीं की गोद में बैठने की बेपनाह चाहत में "महासचिव" अजय सिन्हा पिछले कुछ वर्षों से दुबले हुए जा रहे हैं!

सबसे भयंकर बात यह है कि सरकार की ओर से एकतरफ़ा गारण्टी और धनी किसानों-कुलकों को सुरक्षा-कवच और बेशी मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाली एमएसपी पर पूर्ण ख़रीद गारण्टी की माँग को अजय सिन्हा समाजवादी माँग बता रहे हैं और इस तरह से सोवियत यूनियन के इतिहास के साथ भी दुराचार कर रहे हैं। हम आगे देखेंगे कि पहली बात तो यह है कि सोवियत समाजवादी राज्य सामूहिकीकरण के बाद कलेक्टिवों से ख़रीद करता था; इस क़रार के तहत कलेक्टिव भी अपनी उपज का 90 फीसदी हिस्सा समाजवादी राज्य को बेचने के लिए क़रारबद्ध थे। यानी, गारण्टी एकतरफ़ा नहीं, दोतरफ़ा थी। दूसरी बात, "युद्ध कम्युनिज्म" और नयी आर्थिक नीति (NEP) के दौर में भी सोवियत राज्य ने न तो कभी लाभकारी मूल्य की गारण्टी दी और न ही कुल उपज ख़रीद की।

सामूहिकीकरण के बाद कलेक्टिवों के साथ सोवियत सत्ता का रिश्ता दोतरफ़ा जवाबदेही और दोतरफ़ा ज़िम्मेदारी का था। "महासचिव" अजय सिन्हा को अपने "सर्वस्वीकृत प्राधिकार" का प्रयोग कर धनी किसानों-कुलकों को ऐसे क़रार के तहत सहमत करने का एक प्रयास तो ज़रूर करना चाहिए कि न सिर्फ़ राज्य के लिए यह बाध्यताकारी हो कि वह उपज की ख़रीद करे, बल्कि धनी किसानों-कुलकों के लिए भी बाध्यताकारी हो कि वह अपनी 90 फ़ीसदी उपज हर स्थिति में सरकार को तय दर पर बेचने को बाध्य हों। हमें शंका है कि कुलकों के बीच इस जोखिम भरे उपक्रम से "महासचिव" अजय सिन्हा अनोखे प्रकार के दिलचस्प अनुभव लेकर वापस आ सकते हैं! बहरहाल, यदि ख़रीद व बिकवाली का यह क़रार दोतरफ़ा नहीं है और यह केवल सरकार के लिए बाध्यताकारी है कि वह कुल उपज ख़रीद की गारण्टी दे, लेकिन धनी किसानों-कुलकों को जब खुले बाज़ार में अच्छी दर मिले तो वहाँ बेचें, वरना बेशी मुनाफ़ा देने वाली राजकीय इजारेदार क़ीमत यानी एमएसपी पर बेचें, तो यह समाजवादी माँग नहीं बल्कि सीधे-सीधे धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठना है, उनकी मुनाफ़ाखोरी को समाजवादी माँग बताकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों के साथ धोखाधड़ी और ग़द्दारी करना है।

दूसरी बात, यह ""महासचिव"" अजय सिन्हा जैसे "महामानव" के "महामस्तिष्क" में ही ऐसी बात आ सकती है कि धनी किसानों-कुलकों के एमएसपी, यानी C2 (व्यापक लागत) के ऊपर 50 फ़ीसदी के बेशी मुनाफे के ऊपर की इजारेदार क़ीमत पर राज्य द्वारा ख़रीद की गारण्टी की माँग करना एक समाजवादी माँग है और इसे समाजवादी राज्य पूरा कर सकता है! कोई भी व्यक्ति जिसे समाजवादी अर्थव्यवस्था के ऐतिहासिक अनुभवों और उसके सिद्धान्तों की बुनियादी समझ भी है तो वह ऐसी प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बात कभी नहीं कर सकता। सोवियत रूस और फिर सोवियत यूनियन में खेती नीति पर एक बेहद संक्षिप्त निगाह डालते ही पाठकों को यह बात साफ़ समझ में आ जायेगी।

सोवियत सत्ता की खेती नीति के अलग-अलग दौर थे। सामूहिकीकरण से पहले के दौर में गृहयुद्ध के दौरान सोवियत रूस में धनी किसानों-कुलकों से जबरन अतिरिक्त उपज की वसूली की गयी जो कि गृहयुद्ध की आपातस्थितियों और कुलकों द्वारा प्रतिक्रान्तिकारी तोड़फोड़ और असहयोग के कारण सोवियत सत्ता पर थोप दी गयी नीति थी। तथाकथित "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में चली ज़बरन फ़सल वसूली (requisitioning) की इस व्यवस्था को 1921 में 'नयी आर्थिक नीति' (NEP) के लागू होने के बाद छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर उपज के रूप में कर (tax in kind) की व्यवस्था को लागू किया गया जिसके तहत किसानों को अपनी उपज का एक निश्चित हिस्सा समाजवादी राज्य को सौंपना था और अपनी बाकी उपज को वे खुले बाज़ार में बेचने के लिए आज़ाद थे। 1924 के बाद इस कर को पूर्णत: मौद्रिक रूप दे दिया गया था क्योंकि सोवियत मुद्रा तब तक स्थिरीकृत हो चुकी थी।

नेप के "रणनीतिक रिट्रीट" के इस दौर ने बाज़ार व्यवस्था, नये कुलकों, व्यापारियों, जमाखोरों के वर्ग को जन्म दिया जो दूरगामी तौर पर समाजवादी व्यवस्था के हिमायती नहीं थे और न ही हो सकते थे। लेकिन लेनिन ने स्पष्ट किया था कि रणनीतिक तौर पर अगले आक्रमण से पहले रणनीतिक तौर पर क़दम पीछे हटाने का यह दौर ज़रूरी था, क्योंकि मज़दूर और व्यापक ग़रीब व निम्न-मध्यम किसान आबादी के बीच का संश्रय "युद्ध कम्युनिज्म" के दौर में हुई चूकों के कारण कमज़ोर पड़ गया था और उसके बिना सोवियत रूस में मज़दूर सत्ता को टिका पाना मुश्किल था।

बहरहाल, मज़दूर सत्ता के सुदृढ़ीकरण और व्यापक छोटी व निचली मँझोली किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक कार्य और सर्वहारा सत्ता के सुदृढ़ीकरण के बाद सामूहिकीकरण (1931-1936) हुआ और खेती में निजी सम्पत्ति सम्बन्धों का पूर्णत: ख़ात्मा हो गया। जैसा कि आप देख सकते हैं कि सामूहिकीकरण से पहले के पूरे दौर में भी सोवियत सत्ता ने बेशी मुनाफ़ा देने वाली किसी इजारेदार कीमत पर कभी व्यक्तिगत किसानों से फसल ख़रीद नहीं की थी और न ही ऐसी कोई गारण्टी कभी उन्हें दी थी। वास्तव में, किसी भी दौर में एमएसपी यानी लाभकारी मूल्य जैसी किसी नीति से समाजवाद का दूर-दूर तक कोई लेना हो ही नहीं सकता है, एक बुनियादी बात जो श्रीमान "महासचिव" अजय सिन्हा के मस्तिष्क में नहीं घुस पा रही है। बहरहाल, सामूहिकीकरण के बाद क्या हुआ?

जैसा कि हमने ऊपर बताया, अब सोवियत राज्य किसानों के कलेक्टिव से उपज की खरीद करता था, जिसमें कलेक्टिव के लिए यह बाध्यकारी होता था कि वह अपने उपज का करीब 90 फ़ीसदी तक राज्य को ही एक निश्चित तय कीमत पर बेचेंगे और बाक़ी वे खुले बाज़ार में बाज़ार क़ीमत पर बेचने के लिए आज़ाद थे। भूमि में निजी मालिकाना ख़त्म होने कि वजह से निरपेक्ष लगान का ख़ात्मा हो चुका होता है, लेकिन अगर अलग भूमि की उर्वरता के कारण विभेदक लगान (differential rent) बना रहता है। इसलिए राज्य इस प्रकार से कीमतों का निर्धारण और उपज के रूप में कर लगाता है जिससे कि विभेदक लगान के रूप में अतिरिक्त मुनाफ़े की सम्भावना भी ख़त्म हो जाती है और यह समाजवादी राज्य के पास जाता है, जोकि समस्त मेहनतकश जनता के आम हितों में इसका इस्तेमाल करता है। उपज की क़ीमत इस प्रकार से निर्धारित होती है कि समाजवादी योजना के अनुसार निर्धारित स्तर पर पुनरुत्पादन जारी रहे और कलेक्टिव में काम कर रहे किसानों के लिए एक समाजवादी जीवन-स्तर सुनिश्चित हो। इस कीमत का लाभकारी मूल्य यानी एमएसपी जैसी इजारेदारी क़ीमत से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता, जिसमें लगान समेत

(पेज 15 पर जारी)

अजय सिन्हा व उनकी "यथार्थवादी" मण्डली की नयी "खोज" के बारे में दो शब्द

(पेज 14 से आगे)

व्यापक लागत के ऊपर 50 फ़ीसदी तक अतिरिक्त मुनाफ़ा सुनिश्चित हो! अजय सिन्हा एमएसपी पर अपनी शर्मिन्दगी को छिपाने के लिए अक्सर "उचित क़ीमत" शब्द का इस्तेमाल भी कर देते हैं, लेकिन उनकी यह "उचित क़ीमत" एमएसपी ही है, जिसका समाजवाद या किसी समाजवादी माँग से कोई मतलब नहीं है।

क्या धनी किसान-कुलक आन्दोलन इस प्रकार की कोई माँग उठाता है कि उन्हें बेशी मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाला एमएसपी समाप्त हो जाये या कोई ऐसी उचित कीमत तय हो जो बेशी मुनाफ़ा और महँगाई न पैदा करती हो? क्या किसान आन्दोलन इस पर सहमत होगा कि श्रमशक्ति के शोषण का ख़ात्मा हो जाय? क्या वह इस पर सहमत होगा खेतिहर मज़दूरों के लिए श्रम कानून लागू किये जायें, उन्हें भी न्यूनतम मज़दूरी, 8 घण्टे का कार्यदिवस, साप्ताहिक छुट्टी, सम्मान और बराबरी मिले? क्या वे इस पर सहमत होंगे कि सभी धनी किसानों और कुलकों को सामूहिक फ़ार्म में खुद श्रम करना पड़े? इसका जवाब है बिल्कुल भी नहीं! धनी किसान-कुलक व उनका यह आन्दोलन कभी उपरोक्त बातों को स्वीकार नहीं करेगा, वह कभी समाजवादी कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेगा। पूँजीपति वर्ग का कोई हिस्सा कभी ऐसा नहीं कर सकता है, यह मार्क्सवाद का इमला है, जिसे अपने कोचिंग सेण्टर में पढ़ना माटसाब भूल गये थे। जैसा कि लेनिन ने बताया था कि आप समूचे वर्ग को उसके वर्ग हितों के विपरीत पर सहमत करके मूर्ख नहीं बना सकते! खेतिहर पूँजीपति वर्ग के तौर पर, धनी किसान व कुलक आन्दोलन बस बेशी मुनाफ़ा देने वाली इजारेदार क़ीमत यानी एमएसपी के सुरक्षा कवच को बरक़रार रखना चाहते हैं और जब भी खुले बाज़ार में ऊँची क़ीमत मिलें तो वह खुले बाज़ार में बेचने की आज़ादी चाहते हैं।

"महासचिव" साहब के एक अन्य दावे की भी जाँच कर लेते हैं कि वह तथ्यों पर कहाँ तक खरा उतरता है। माटसाब अजय सिन्हा का यह भी कहना है कि बाज़ार की अराजकता की वजह से अब इन बेचारे कुलकों को खुले बाज़ार में मिलने वाली ऊँची कीमतों का लालच बिल्कुल भी नहीं रह गया है! क्या वाक़ई?! आइये देखते हैं। हाल में ही खाद्य तेलों की ऊँची कीमतों की वज़ह से तिलहन की क़ीमतें भी काफ़ी ऊँची हो गयी है, और ऐसे में यही धनी किसान और कुलकों ने एमएसपी पर राज्य को बेचने के बजाय खुले बाज़ार में काफ़ी ऊँची कीमतों पर बेचा! और ऐसा हर उस खेती उत्पाद के मामले में हमेशा ही होता है, जिसकी किसी वजह से बाज़ार में ऊँची कीमत मिल रही हो। उस समय कोई धनी किसान या कुलक सरकारी ख़रीद पर थूकने भी नहीं जाता है और अचानक मुक्त व्यापारवादी बन जाता है! जैसे ही किसी वजह से क़ीमतें नीचे गिरती हैं, वैसे ही वह संरक्षणवादी बन जाता है और उसे नेहरू व पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का दौर याद आने लगता है! पूँजीपति वर्ग के हर हिस्से के समान अवसरवाद धनी किसानों व कुलकों के वर्ग की भी ख़ासियत है। ज़ाहिर है कि इन कुलकों का मक़सद कहीं से यह नहीं है कि राज्य इनके सम्पूर्ण ख़रीद की गारण्टी ले! किसी भी पूँजीपति के समान उनका मक़सद अधिक से अधिक मुनाफ़ा है और अगर यह खुले बाज़ार में मिलता है, तो ये वहाँ से लेंगे और यदि एमएसपी के सुरक्षा जाल द्वारा मिलता है, तो उससे लेंगे। "महासचिव" अजय सिन्हा यही चाहते हैं कि इन कुलकों को ये दोनों विकल्प उपलब्ध हों और उनके मुनाफ़े की दर में कमी से "महासचिव" का दिल इस कदर ज़ार-ज़ार रो रहा है और वह मुनाफ़ाखोरी की इस कुलक माँग को समाजवादी माँग का नाम देने पर मचल गये हैं।

अब अन्तिम बिन्दु पर आते हैं, जहाँ हम चोर दरवाज़े से दूसरों के तर्क चोरी करने के "महासचिव" अजय सिंह के कौशल की ओर आपको ध्यानाकर्षित करेंगे, हालाँकि सही तार्किक पद्धति भी इन महोदय के हाथ में आ जाये, तो यह अपनी ही हज़ामत बना डालते हैं। इसी को कहते हैं 'बन्दर के हाथ में उस्तरा'।

"महासचिव" अजय सिन्हा के उपरोक्त कुतर्कों का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि किसानों की यह माँग (एमएसपी पर उपज की सम्पूर्ण ख़रीद की गारण्टी की माँग) पूँजीवादी राज्य नहीं पूरा कर सकता है इसलिए यह माँग पूँजीवाद को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु (point of impossibility) तक ले जायेगा, और फिर माटसाब उनके बीच समाजवाद का नारा उठायेंगे और ये कुलक भगदड़ मचाकर समाजवाद की शरण में आ जायेंगे और ""महासचिव"" माटसाब को समाजवादी राज्य का प्रीमियर नियुक्त कर देंगे! माटसाब ने पूँजीवाद के असम्भव्यता के बिन्दु तक पहुँचने वाला तर्क भी हमसे ही चुराया है, हालाँकि इस्तेमाल ग़लत जगह कर दिया है! अब बन्दर के हाथ में टोपी आयेगी तो ज़रूरी थोड़े ही है कि वह उसे सिर पर ही पहनेगा! अब थोड़ा तथ्यों को देख लेते हैं। कुछ वर्षों पहले जब इनके साथ हमारी बहस रोज़गार गारण्टी के कानून की माँग को लेकर हो रही थी, तो अजय सिन्हा का तर्क था कि हमें रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग नहीं करनी चाहिए क्योंकि पूँजीवाद सबको रोज़गार दे ही नहीं सकता है और ऐसा क़ानून बनने से जनता भ्रमित होगी। उस वक़्त हमने कहा था कि रोज़गार की गारण्टी के लिए क़ानून की माँग हमें ठीक इसलिए करनी चाहिए क्योंकि पूँजीवाद सबको रोज़गार नहीं दे सकता। ऐसे गारण्टी क़ानून के ज़रिये जनसंघर्षों के ज़रिये पूँजीवाद की सीमाओं का उजागर करना अधिक सरल और कारगर होगा और पूँजीवादी व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाना भी सम्भव होगा। हमने सन्दर्भ समेत यह भी दिखाया कि 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' में मार्क्स ने ठीक यही तर्क दिया था कि काम के हक़ के क़ानून को कम्युनिस्टों को क्यों उठाना चाहिए। लेकिन उस वक़्त माटसाब और उनके साँचों पान्जाओं ने इसका जमकर विरोध किया था। यानी आम जनता के लिए रोज़गार गारण्टी का कानून नहीं माँगना चाहिए। लेकिन धनी किसानों-कुलकों के हाथों एमएसपी की गारण्टी के साथ फसल की पूर्ण ख़रीद की गारण्टी का कानून माँगना चाहिए! यह है हमारे माटसाब की वर्ग पक्षधरता और समझदारी! ऊपर से तुर्रा यह कि असम्भाव्यता के बिन्दु के हमारे तर्क को चुराकर माटसाब अपनी मूर्खता के यज्ञ में प्रयोग कर रहे हैं! ज़ाहिर है कि माटसाब के लिए, आम मेहनतकश जनता के लिए रोज़गार गारंटी क़ानून की माँग पूँजीवाद को असम्भाव्यता के बिन्दु तक नहीं ले जा सकती, लेकिन धनी किसानों और कुलकों की अतिरिक्त मुनाफा सुनिश्चित करने वाले एमएसपी पर ख़रीद गारण्टी की माँग इसे असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाती है! यह है हमारे पटना के दोन किहोते यानी "महासचिव" अजय सिन्हा की "समझदारी"!

इसीलिए हम पाठकों को बार-बार आगाह करते आये हैं कि माटसाब और इनकी "यथार्थवादी" मूर्खमण्डली से दूर रहना आपके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत ज़रूरी है और साथ ही यदि आप मार्क्सवाद के विषय में वाकई जानना चाहते हैं, तो मूर्खता के प्रचार-प्रचार के लिए समर्पित इस शंकर जी की बारात से दूर रहें।

---

* दोन किहोते – स्पेन के महान लेखक सरवान्तेस के कालजयी उपन्यास 'दोन किहोते' का नायक जो ह्रासमान सामन्ती वर्ग का एक प्रहसनात्मक प्रतिनिधि है और अपनी कपोल-कल्पनाओं व सूरमाओं की गल्पकथाओं को पढ़ते-पढ़ते पागल हो जाता है, ख़ुद को भी एक सूरमा समझ बैठता है और एक मरियल घोड़ी को लेकर और एक मूर्ख व काँइयाँ किसान साँचो पान्जा को अपने साथ लेकर रोमांचकारी यात्राओं पर निकल पड़ता है।

"यथार्थवादियों" व उनके "महासचिव" अजय सिन्हा के चहेते धनी किसानों व कुलकों ने खुले बाज़ार में अच्छा गेहूँ बेचकर मुनाफ़ा कूटा और सरकारी ख़रीद में बेचा सड़ा गेहूँ!

अमित

"महासचिव" अजय सिन्हा, यानी, भविष्य के समाजवादी राज्य के "प्रीमियर" और इनकी "यथार्थवादी" मूर्खमंडली का कहना है कि बेचारे धनी किसानों व कुलकों को अब खुले बाज़ार में ऊँचे दाम का लालच बिलकुल भी नहीं रह गया है! ये बेचारे तो बस "उचित दाम" (मतलब, खाद्यान्न की महँगाई बढ़ाकर कुलकों को बेशी मुनाफ़ा देने वाला एमएसपी!) पर पूर्ण सरकारी ख़रीद चाहते हैं, चाहे खुले बाज़ार में क़ीमतें कितनी भी ऊँची क्यों न हो! वैसे तो कुलकों की ट्रॉली में सवार होने के लिए इनके द्वारा किये जा रहे इस झूठे और मूर्खतापूर्ण दावे की पोल हम पहले भी कई बार खोलते रहे हैं, लेकिन आए-दिन धनी किसानों व कुलकों का वर्ग स्वयं ही ऐसी हरक़तें करता है कि माटसाब अजय सिन्हा व उनकी शिष्य मण्डली तथा सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय मूर्खेश असीम जैसे कुलकवादियों को बगलें झाँकनी पड़ती हैं। कुलकों व धनी किसानों के वर्ग की ऐसी ही हरक़तों के बारे में एक ख़बर अभी सामने आयी है।

अभी 'द प्रिंट' (the print) में छपी ख़बर के अनुसार, गेहूँ की सरकारी ख़रीद इस साल पिछले साल के मुकाबले अधिक हुई है, जबकि बारिश और ख़राब मौसम की वजह से गेंहू की फ़सल काफ़ी ख़राब हुई थी। दिलचस्प बात यह है कि इन कुलकों ने अपनी ख़राब फ़सलों को एमएसपी पर सरकारी एजेन्सियों को बेचा है, क्योंकि खुले बाज़ार में उनकी क़ीमत बेहद कम थी। लेकिन अच्छी फ़सल को जिनकी गुणवत्ता बेहतर थी, उसे खुले बाज़ार में ऊँचे दाम पर बेचा है, क्योंकि अभी यूक्रेन-रूस युद्ध और कई अन्य वजहों से अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में गेहूँ की आपूर्ति की कमी होने की वजह से खुले बाज़ार में इनकी कीमतों में भारी उछाल आया है! यह ख़बर यहाँ पढ़ें:

https://theprint.in/business/indian-wheat-procurement-gains-pace-jumps-above-last-years-buying/1544133/?utm_source=TPWeb&utm_medium=Telegram&utm_campaign=TappChannel

यह है इन धनी किसानों-कुलकों का असली चरित्र जिनकी ट्राली पर सवार होकर हमारे माटसाब अजय सिन्हा समाजवाद ले कर आने वाले हैं! कुलकवादियों ने दावा किया था कि धनी किसान व कुलक सार्वजनिक वितरण प्रणाली के बरबाद होने के ख़तरे से दुखी हैं इसलिए आन्दोलन कर रहे हैं! उपरोक्त घटना ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली के बारे में कुलकों के "सरोकार" के दावों की भी पोल खोल दी है। साथ ही, "यथार्थवादियों" का यह बचकाना दावा भी एक बार फिर स्वयं कुलकों द्वारा ही झुठला दिया गया है कि धनी किसानों व कुलकों को अब खुले बाज़ार का मोह नहीं रहा और वह बस एमएसपी पर पूर्ण सरकारी ख़रीद की गारण्टी चाहते हैं। सच्चाई यह है कि वे अधिकतम सम्भव मुनाफ़ा चाहते हैं। जब वह खुले बाज़ार में मिले तो वहाँ से लूटो और जब वहाँ स्थिति ख़राब हो तो ग़रीब मेहनतकश जनता की क़ीमत पर ऊँचे एमएसपी पर सरकारी ख़रीद के ज़रिये पीटो। आखिर वे खेतिहर पूँजीपति वर्ग ही हैं और उनसे उसी बर्ताव की उम्मीद की जा सकती है जो कि पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से से की जायेगी। लेकिन अजय सिन्हा तो कुलकों की गोद में ही बैठकर समाजवाद तक पहुँचने के लिए मचले हुए हैं, तो उन्हें समझाना थोड़ा कठिन है।

कुलक और धनी किसान वर्ग, कुछ और नहीं बल्कि पूँजीवादी माल उत्पादकों का ही वर्ग है। इसका मक़सद अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने के अलावा कुछ और नहीं है। उन्हें बाज़ार की अराजकता से कोई शिकायत नहीं है (जैसा की माटसाब और इनकी "यथार्थवादी" मूर्खमण्डली समझती है!) क्योंकि इसी अराजकता के कारण क़ीमतें ऊँची भी होती हैं। जब खुले बाज़ार में ठीक अराजकता के कारण ही ऊँची क़ीमतें होती हैं, तो इन्हें भारी मुनाफ़ा कूटने में कोई गुरेज़ नहीं होता। किसी पूँजीवादी माल उत्पादक को भला होगा भी क्यों? माटसाब और मूर्खेश असीम जैसे कुलकपरस्त ही पता नहीं किस दुनिया में रहते हैं जिन्हें यह सामान्य-सी बात समझ में नहीं आती या समझना नहीं चाहते हैं! यह भी कुलकों-धनी किसानों के वर्ग की मौक़ापरस्ती ही है कि जब बाज़ार में ठीक उसी अराजकता के कारण क़ीमतें नीचे रहती है तब वे एमएसपी पर सरकारी ख़रीद की गारण्टी चाहते हैं (हालाँकि तब भी पूर्ण ख़रीद जैसी कोई गारण्टी नहीं चाहते हैं) ताकि बेशी मुनाफ़ा सुनिश्चित रहे और इन्हें एमएसपी वाला "उचित दाम" मिलता रहे! यानी, जब ज़रूरत हो तो कुलक व धनी किसान मुक्त व्यापार-वादी हो जाते हैं और जब ज़रूरत हो, वे संरक्षणवादी हो जाते हैं! इस वर्ग की मौक़ापरस्ती ही इनकी नुमाइन्दगी करने वाले राजनीतिक दलों/ग्रुपों आदि की राजनीतिक (कभी दक्षिण तो कभी "वाम") मौक़ापरस्ती के रूप में प्रकट होती रहती है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर भी ऐसे कई ग्रुप मौजूद हैं और उनमें से ही विशेष तौर पर प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बातें करने वाला एक ग्रुप है पीआरसी सीपीआई (एमएल) और उसकी "यथार्थवादी" मूर्ख-मण्डली।

यही वजह है कि हम इस ग्रुप की मूर्खताओं और मौक़ापरस्ती के बारे में पहले भी तमाम साथियों को आगाह करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

भाजपा के 'लव जिहाद' की नौटंकी की सच्चाई

गायत्री भारद्वाज

आपको पता ही होगा कि भाजपा पिछले कई वर्षों से 'लव जिहाद' को लेकर दंगे-फ़साद और हत्याएँ करवाती रही है। यह 'लव जिहाद' क्या है? अगर किसी मुसलमान पुरुष की किसी हिन्दू स्त्री से शादी होती है, तो उसे भाजपा वाले 'लव जिहाद' बोलते हैं। अगर इसका उल्टा हो, यानी अगर हिन्दू पुरुष मुसलमान स्त्री से शादी कर ले, तो भाजपा वाले उसे 'प्रेम धर्मयुद्ध' नहीं बोलते। युद्ध या जिहाद इलाके, सम्पत्ति, देश जीतने के लिए होते हैं। तो फिर इस 'लव जिहाद' शब्द का मतलब क्या हुआ? परायी धर्म की स्त्री को जीतना! मानो स्त्री ज़मीन-जायदाद, इमारत, सम्पत्ति या ऐसी कोई चीज़ हो! प्यार करना सभी का स्वाभाविक अधिकार है। यदि कोई स्त्री अलग धर्म के पुरुष से प्यार करती है, तो यह उसका व्यक्तिगत मसला है। स्त्री किसी धार्मिक समुदाय की सम्पत्ति नहीं है और न ही उस धार्मिक समुदाय का "सम्मान" या "प्रतिष्ठा" स्त्री की देह या उसकी योनि में समायी होती है। अगर किसी को ऐसा लगता है, तब तो कहना होगा कि ऐसा सोचने वाले व्यक्ति को अपने धार्मिक समदाय की "प्रतिष्ठा" या "सम्मान" या "इज़्ज़त" की सोच के बारे में सोचना पड़ेगा कि यह कैसा समुदाय है जिसकी इज़्ज़त, प्रतिष्ठा या सम्मान किसी गुप्तांग में समाया हुआ हो!

असल में, यह औरत की गुलामी की ही निशानी है कि तमाम प्रकार के धार्मिक कट्टरपंथी, संघी फ़ासीवादी आदि स्त्री की देह को अपनी घटिया राजनीति का मैदान बना देते हैं। स्त्री हमेशा किसी (पुरुष) की माँ, बहन, बेटी, बीवी आदि होती है, अपने आप में एक स्त्री के वजूद का कोई मतलब नहीं होता! इस सोच को मज़दूर वर्ग को गुलाम बनाये रखने के लिए सरमायेदार जमकर इस्तेमाल करते हैं। हमारे पुरुष मज़दूर भाइयों में भी कई बार ऐसी सोच आ जाती है कि "घर की औरत" बाहर काम करेगी तो इज़्ज़त पर बट्टा लगेगा, उसे केवल घूँघट-घर की चौहद्दी में रहना चाहिए, आदि। लेकिन दोस्तो, इतिहास के मज़दूर इंक़लाबों और न सिर्फ मज़दूर इंक़लाबों बल्कि अधिकांश इंक़लाबों की शुरुआत अक्सर स्त्रियों की पहलकदमी पर शुरू हुई बग़ावतों से हुई। हर क्रान्ति में आदमियों के साथ औरतों ने बहादुरी और समझदारी की मिसालें क़ायम कीं। और आज़ाद भी वे ही मज़दूर हुए जिन्होंने औरतों की गुलामी का समर्थन नहीं किया और इस बात को समझा कि औरतों की गुलामी का इस्तेमाल पूँजीवाद सारे मज़दूरों को दबाने के लिए, मज़दूरों की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के अपने ख़र्च को मज़दूर परिवार में औरतों के पुनरुत्पादक श्रम पर डालकर कम करने के लिए और मज़दूर वर्ग को तोड़ने के लिए करता है।

बहरहाल, 'लव जिहाद' की भाजपा वालों की नौटंकी उतनी ही बेहूदी, झूठी और बकवास है जितनी की उनकी गोरक्षा की नौटंकी। पिछली बार मैंने आपको इनकी गोरक्षा की नौटंकी के बारे में विस्तार के साथ और सबूतों के साथ बताया था। इस बार मैं आपको इनके 'लव जिहाद' के फ़रेब के बारे में बताऊँगी।

संघी हाफ़पैण्टियों और भाजपाई भ्रष्टाचारियों के अनुसार अगर मुसलमान आदमी की हिन्दू औरत से शादी हो, तो वह 'लव जिहाद' है, जिसका मक़सद होता है धर्मान्तरण करना। वैसे तो अपना धर्म बदलना भी किसी का व्यक्तिगत मसला है और जब तक कोई व्यक्ति स्वयं न बोले कि उससे जबरन धर्म परिवर्तन करवाया गया है, तब तक इसमें हस्तक्षेप का किसी को कोई अधिकार नहीं है। इस 'लव जिहाद' के हल्ले का एक मक़सद यह भी है हममें ये बेबुनियाद भय पैदा किया जाये कि "मुसलमान आपकी औरतों को ले जायेंगे!" यह बात ही किस कदर बकवास है, यह तो हम देख चुके हैं लेकिन क्या भाजपा वाले अपनी इस बकवास के प्रति भी वफ़ादार हैं? जिस प्रकार गोरक्षा की नौटंकी भी एक बकवास थी, जैसा कि हमने पिछली बार देखा था, उसी प्रकार 'लव जिहाद' की नौटंकी भी बकवास है। जिस प्रकार अपनी गोरक्षा की बकवास के प्रति भी भाजपा वाले वफ़ादार नहीं थे, उसी प्रकार अपनी 'लव जिहाद' की बकवास के प्रति भी भाजपा वाले वफ़ादार नहीं हैं। जिस प्रकार गोरक्षा की नौटंकी का मक़सद केवल हिन्दू व मुसलमानों में झगड़ा करवाना है, जबकि भाजपा वाले खुद उत्तर-पूर्व के राज्यों जैसे कि अरुणाचल प्रदेश, नगालैण्ड, मणिपुर आदि में, गोवा और केरल में खुद ही गोमांस खाने और अधिक से अधिक गोमांस की सप्लाई करवाने का वायदा करते हैं और खुद बड़े-बड़े बूचड़खानों के निदेशक बने बैठे हैं; उसी प्रकार, 'लव जिहाद' की इनकी बकवास का असल मक़सद भी बस हिन्दू व मुसलमान जनता में फ़ालतू के मसले पर लट्ठ बजवाना और सिर-फुटौव्वल करवाना है, ताकि हम अपने असली मसलों, यानी महँगाई और बेरोज़गारी पर एकजुट न हो सकें और 'लव जिहाद' जैसे फ़र्ज़ी मसले पर फँसे रहें।

अब ज़रा सच्चाई पर एक नज़र डालिये और खुद सोचिये: भाजपा के तमाम शीर्ष नेताओं या उनके बेटे-बेटियों, भतीजा-भतीजियों ने मुसलमान पुरुष या स्त्री से शादियाँ की हैं, तो फिर ये हमें 'लव जिहाद' के नाम पर क्यों लड़वा रहे हैं? आइये कुछ तथ्यों पर निगाह डालिये।

भाजपा के मुसलमान नेता शाहनवाज़ हुसैन की शादी एक हिन्दू स्त्री रेणु शर्मा से 1994 में हुई थी। इनके बीच प्रेम विवाह हुआ था। रेणु शर्मा के घर वाले शादी के लिए तैयार नहीं थे, तो उन्हें मनाने कौन गया था? क्या आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं? उन्हें मनाने के लिए हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़काने वाले बयान देने में माहिर साध्वी उमा भारती गयी थी! क्या शाहनवाज़ हुसैन एक हिन्दू लड़की रेणु शर्मा से प्रेम विवाह करके 'लव जिहाद' नहीं कर रहे थे? मतलब, भाजपा वाले अगर अन्तर्धार्मिक प्रेम विवाह करें, तो उसे 'लव जिहाद' नहीं माना जायेगा!

भाजपा के मुसलमान नेता मुख़्तार अब्बास नक़वी ने भी एक हिन्दू औरत सीमा से 1983 में शादी की थी। यह भी प्रेम विवाह था और सीमा की माँ पहले इसके ख़िलाफ़ थीं, लेकिन बाद में उन्होंने दोनों के रिश्ते को मान लिया था। तो सवाल उठता है कि मुख़्तार अब्बास नक़वी ने भाजपा की ही परिभाषा से खुलेआम 1982-83 में ही 'लव जिहाद' की थी! पिछले 40 साल में इस पर भाजपाइयों के चवन्नियों-अठन्नियों यानी इनके पीले चेहरे वाले टुटपुँजिया लफंगों की भीड़ ने कभी मुख़्तार अब्बास नक़वी के घर पर हमला क्यों नहीं किया?

थोड़ा और पीछे चलते हैं। भाजपा के मर चुके मुसलमान नेता सिकन्दर बख़्त ने, जो कि कुरेशी मुसलमान समुदाय से आते थे, 1952 में ही एक ब्राह्मण लड़की राज शर्मा से शादी की थी। यह सच है कि यह बात 1952 की है जब सिकन्दर बख़्त कांग्रेस में थे। लेकिन अगर भाजपाई और संघी हाफ़ पैण्टिये मुगल काल में और सल्तनत काल में, यानी 300-400 या 800-900 साल पहले मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दुओं पर हुए कथित अत्याचार पर आज मुसलमानों के घर जला सकते हैं, दंगे फैला सकते हैं, मॉब लिंचिंग कर सकते हैं, तो 70 साल पहले सिकन्दर बख़्त द्वारा की गयी 'लव जिहाद' के आधार पर आज उनके घर पर हमला क्यों नहीं करते? वास्तव में तो मुगल काल और सल्तनत काल भी कोई मुसलमान शासन का दौर नहीं था और उस समय भी शासक वर्ग में बहुत-से हिन्दू राजपूत शासकों, क्षत्रिय शासकों, खत्री, कायस्थ, व मराठा शासकों की हिस्सेदारी हुआ करती थी और यह धार्मिक और नस्ली तौर पर एक मिश्रित शासक वर्ग था। इसलिए "मुसलमान शासन काल", "मुसलमान काल" आदि औपनिवेशिक और साम्प्रदायिक इतिहासकारों द्वारा रचे गये झूठे शब्द हैं। इतिहास को इस प्रकार धार्मिक शासन कालों में बाँटा ही नहीं जा सकता है। लेकिन मुद्दे पर लौटते हैं। सवाल यह है कि हाफ पैण्टियों की वानर सेना कभी सिकन्दर बख़्त के घर हमला क्यों नहीं बोलती 'लव जिहाद' करने के लिए?

आगे बढ़ते हैं।

अब बात करते हैं भाजपा के मुखर नेता सुब्रमन्यम स्वामी के बारे में। इनकी हिन्दू बेटी सुहासिनी ने एक मुसलमान आदमी नदीम हैदर से शादी की। क्या यह 'लव जिहाद' की परिभाषा में नहीं आयेगा? क्यों नहीं आयेगा? अभी भाजपा के दंगाई जो इस समय महाराष्ट्र में मुसलमान आबादी के खिलाफ़ घटिया शब्दावली में उन्मादी भाषणबाज़ी करके 'लव जिहाद' का हौव्वा खड़ा कर रहे हैं, 'लव जिहाद' के मसले पर उन्माद भड़काकर रैलियाँ निकाल रहे हैं, वे कभी सुब्रमन्यम स्वामी या सुहासिनी हैदर के घर हमला क्यों नहीं करते?

अब आप 'क्रोनोलॉजी' समझिये। वास्तव में, 'लव जिहाद' कोई मसला है ही नहीं। 'लव जिहाद' तो बहाना है, जनता ही निशाना है। चूँकि भाजपा की मोदी सरकार जनता को रोज़गार नहीं दे सकती, महँगाई से छुटकारा नहीं दे सकती, खुले तौर पर अडानी-अम्बानी के तलवे चाटने में लगी है, और सिर से पाँव तक भ्रष्टाचार में लिप्त है, तो वह असली मसलों पर बात कर ही नहीं सकती, जो आपकी और हमारी ज़िन्दगी को प्रभावित करते हैं। अगर 'लव जिहाद' वाकई कोई मसला होता तो हाफपैण्टिये लम्पट गिरोह सबसे पहले शाहनवाज़ हुसैन, मुख्तार अब्बास नक़वी, सिकन्दर बख़्त, सुब्रमन्यम स्वामी व सुहासिनी हैदर के घर हमला करते, क्योंकि इनके पते तो इन दंगाइयों के पास हैं ही; उन्हीं की पार्टी से तो हैं ये लोग। लेकिन निशाना बनाया जाता है आम घरों से आने वाले युवाओं को जो धर्म और जाति की दीवारें तोड़कर एक-दूसरे से प्यार कर बैठते हैं; तब ये आपराधिक साम्प्रदायिक तत्व उन पर हमला करते हैं। क्यों?

क्योंकि मज़दूरों और मेहनतकश आबादी की सबसे बड़ी दुश्मन यानी मोदी सरकार और उसके पीछे खड़ा आरएसएस का संगठन एक ऐसी फ़ासीवादी राजनीति करते हैं जो जनता के बीच धर्म के आधार पर एक फर्जी डर पर आधारित है; जैसे कि आपको बताया जाता है कि मुसलमान ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं और इस वजह से एक दिन भारत में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से ज़्यादा हो जायेगी। जब आप ठोस आँकड़े उठाकर हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच जन्म-दर की तुलना करते हैं, तो आप पाते हैं कि यह बकवास है। उसी प्रकार, आपमें यह डर बिठाया जाता है कि मुसलमान आपकी बीवी, बेटी, बहन आदि को भगा ले जायेंगे और उन्हें मुसलमान बना देंगे! और औरत कोई इन्सान तो मानी नहीं जाती! वह तो "जर, जोरू, ज़मीन" का ही एक हिस्सा है! इसलिए यदि हिन्दू पुरुष ने मुसलमान औरत से शादी की तब कोई दिक्कत नहीं है, क्योंकि आपने इन दकियानूसी विचारों के अनुसार किसी और की सम्पत्ति और इज़्ज़त को हथिया लिया! कुछ मुसलमान कट्टरपंथी भी इतने ही बेहूदा और दकियानूसी विचार रखते हैं। लेकिन यह पूरा डर ही बकवास है। भारत में प्राचीनकाल से ही अलग-अलग समुदायों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध बनते रहे हैं। उस समय उसके कारण राजनीतिक हुआ करते थे। पहले युद्धरत राज्य के राजा लोग आपस में वैवाहिक सम्बन्ध बना लेते थे, ताकि उनके बीच के रिश्ते सामान्य हो जायें। कई बार यह क्षेत्रों और स्त्रियों के आदान-प्रदान का अंग हुआ करता था क्योंकि सामन्ती दौर और सामन्ती दौर से पहले के दौर में भी स्त्रियों को सम्पत्ति ही समझा जाता है।

आधुनिक युग में प्रगतिशील और वैज्ञानिक सोच ने औरतों के बारे में इस घटिया समझदारी को ध्वस्त कर दिया। इसमें खुद हमने, यानी मेहनतकशों और मज़दूरों ने बड़ी भूमिका निभायी। लेकिन आज फ़ासीवाद हमारे सामने औरतों के विषय में उन्हीं अवैज्ञानिक, पिछड़े, दकियानूसी और ढकोसलेपंथी विचारों को फैलाकर अपनी गोटियाँ लाल कर रहा है। हममें से कई भाई-बहन भी इस फर्जी मसले में बह जाते हैं। लेकिन बहुत-से समझदार भाई-बहन 'लव जिहाद' जैसे फर्जी मसलों की सच्चाई को समझते हैं। वे अपने सर्वहारावर्गीय दृष्टिकोण से और सर्वहारा वर्ग के वैचारिक और राजनीतिक संघर्ष के इतिहास से शिक्षा लेते हुए समझते हैं कि स्त्री कोई सम्पत्ति या माल नहीं है जिसे कब्ज़ा किया जाय, लूटा जाय, बेचा-ख़रीदा जाय। वह किसी की बहन, बेटी, बीवी, माँ ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं एक व्यक्ति है, जिसके अपने विचार, अपनी भावनाएँ, अपनी स्वतन्त्रता है। किसी भी व्यक्ति के समान उसे भी यह तय करने का अधिकार है कि वह जीवन में कौन-सा पेशा अपनाये, किसे जीवन-साथी के तौर पर अपनाये, आदि। न तो उसकी इज़्ज़त व सम्मान उसके जननांगों में निहित है और न ही किसी समुदाय का सम्मान या इज़्ज़त उस समुदाय की औरतों के जननांगों में सीमित है। औरत के शरीर को हमेशा ही मज़दूरविरोधी राजनीतिक धाराएँ और आन्दोलन समुदायों के बीच की साम्प्रदायिक जंग का मैदान बना देते हैं। यही वजह है कि सभी दंगों में बलात्कार को किसी समुदाय को "सज़ा देने, अनुशासित करने, या सबक सिखाने" के लिए फ़ासीवादी और दक्षिणपन्थी दंगाई एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के फासीवादी आन्दोलनों ने भी यही किया था और आज संघी हाफपैण्टियों का

(पेज 6 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016